प्रतिमा – पूजन

लेखक

प. पू. श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर

प्रतिमा - पूजन

— लेखक और संग्राहक —

पू० पं० श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर

प्रकाशक :

श्री विमल प्रकाशन ट्रस्ट

अहमदाबाद

प्रकाशक :
श्री विमल प्रकाशन ट्र
अहमदाबाद

आवृत्ति—प्रथम
वि० सं०—२०३७
मूल्य—रु० ८/-

प्राप्ति स्थान :

(१) विमल प्रकाशन ट्रस्ट, शांति कमर्शियल सेन्टर, नगर सेठ का बंड़ा, रिलीफ रोड, अहमदाबाद

(२) श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, दादावाड़ी, अजमेर

(३) सरस्वती पुस्तक भंडार, रतनपोल, हाथीखाना, अहमदाबाद

(४) सोमचन्द डी. शाह, पालीताणा

(५) मा. सेवंतीलाल वी. जैन
२०, महाजन गली, पहला माला,
जवेरी बाजार, बम्बई

(६) श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ जैन पुस्तक भंडार
शंखेश्वर, वाया हारीज (उ. गु.)

(७) श्री सूर्यशशी जैन तत्त्वज्ञान पाठशाला,
आरती (सी) ब्लाक नं. ५,
जूना नागरदास रोड, अंधेरी, बम्बई

92:414

मुद्रक :
शिरीशचन्द शिवहरे
फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस
श्रीनगर रोड, अजमेर

श्री नमस्कार-महामन्त्र

नमो अरिहंताणं ।

नमो सिद्धाणं ।

नमो आयरियाणं ।

नमो उवज्झायाणं ।

नमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंचनमुक्कारो ।

सव्वपावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं ।

पढमं हवइ मंगलं ।

प्रतिमा-पूजन

"जिनपूजनसत्कारयोः करणलालसः
खल्वाद्यो देशविरतिपरिणामः ।"

—भगवान् श्री हरिभद्रसूरिः ।

वास्तव में देश विरति-श्रावक धर्म का आद्य परिणाम यदि कोई है, तो वह श्री जिनेश्वर देव की पूजा और सत्कार करने की लालसा है, अर्थात् जिसे जिनेश्वर देव की पूजा और सत्कार करने की लालसा नहीं है, उसे सर्वज्ञोक्त पंचम-गुणस्थानक-स्वरूप देशविरति-श्रावकपन का आद्य परिणाम भी प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसा समझना चाहिये ।

प्रतिमा - पूजन

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ
प्रकाशकीय	....	
उपोद्घात	....	
प्रकरण : १		
प्रतिमा पूजन की पारमार्थिक श्रेय : साधकता	....	१
प्रकरण : २		
प्रतिमा पूजन की प्राचीनता	....	३६
प्रकरण : ३		
प्रतिमा पूजन की शाश्वतता	....	४६
प्रकरण : ४		
प्रतिमा पूजन की शास्त्रीयता, वैज्ञानिकता और बुद्धिगम्यता को सिद्ध करने वाली प्रश्नोत्तरी—प्रश्न १ से ६८	....	७०
प्रकरण : ५		
श्लोकादि संग्रह	....	२४१
प्रकरण : ६		
मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में एक जैनेतर विद्वान् के मननीय विचार	....	२५६

प्रकाशक का निवेदन

परमोपकारी पूज्यपाद पंयास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य श्री ने आज से चालीस वर्ष पूर्व 'प्रतिमा पूजन' नामक इस पुस्तक का लेखन-संपादन-संकलन किया था।

प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने शास्त्रीय आधार पर बहुत ही मार्मिक दृष्टि से यह स्पष्ट किया है कि प्रतिमा पूजन कितनी सर्वोच्च कल्याणकारी प्रवृत्ति है। इस पुस्तक को कोई भी पाठक समदृष्टि से ध्यान पूर्वक पढ़ने के बाद इसी निर्णय पर पहुँचेगा कि प्रतिमा पूजन स्व-पर-श्रेय के लिये अजोड़ और अनुपम सफल धर्म क्रिया है।

जिन-प्रतिमा पूजन के महत्त्व को समझने तथा इस सम्बंधी भ्रांतियों को दूर करने में यह पुस्तक अजोड़ सामग्री से परिपूर्ण है। अतः आत्मकल्याण के इच्छुक महानुभावों से इस सम्पूर्ण पुस्तक को एकाग्रता से पढ़ने का अनुरोध हैं।

श्री जिनदत्तसूरि मंडल, अजमेर के मंत्री भाई श्री चांदमलजी सीपाणी ने इस पुस्तक की छपाई सम्बंधी तथा प्रूफ संशोधन में जो उत्साह बताया है उसके लिए विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं।

पू. पंयासजी म. सा. का साहित्य वर्तमान काल में आराधक वर्ग को महान् प्रेरणादायक है। पूज्य श्री के साहित्य का अमृत

आत्मार्थी जीवों को मिल सके इसके लिए पूज्य श्री का साहित्य क्रमशः प्रगट करने की भावना है। अभी हाल में 'नमस्कार दोहन' नामक पुस्तक भी गुजराती में छप रही है। इसके बाद भी उनकी चितनात्मक पुस्तकें शीघ्र प्रकट होने वाली हैं। इसके सिवाय उनकी प्रकाशित पुस्तकें जो भी उपलब्ध हैं उनकी सूची इस पुस्तक में दी गई है। सब ऐसा चितनात्मक साहित्य पढ़कर आत्मकल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ें यही मंगल कामना।

दिनांक १-२-८१

श्री विमल प्रकाशन ट्रस्टीगण
अहमदाबाद

प्रतिमा - पूजन

उपोद्घात

समर्थ शास्त्रकार-महर्षि आचार्य भगवान् श्रीमद् हरिभद्र-सूरिजी और उनसे भी पूर्व के महान् पूर्वाचार्य महर्षी फरमाते हैं कि—

"चैत्यवन्दनतः सम्यक् शुभो भावः प्रजायते ।
तस्मात् कर्मक्षयः सर्वं, ततः कल्याणमश्नुते ॥

चैत्य अर्थात् जिन मंदिर अथवा श्री जिनबिम्ब को सम्यग् रीति से वन्दन करने से प्रकृष्ट शुभ भाव पैदा होते हैं। शुभ भाव से कर्म का क्षय होता हैं और कर्मक्षय से सर्व कल्याण की प्राप्ति होती है। मन, वचन, काया की प्रशस्त प्रवृत्ति का नाम 'वन्दन' है। मन से ध्यान करना, वचन से स्तुति करना तथा काया से पूजा आदि करना, उन्हें शास्त्रीय भाषा में वन्दन क्रिया कहते हैं। श्री अरिहंत के चैत्यों को मन, वचन और काया द्वारा वन्दन करना, सुगंधित पुष्पमाला आदि द्वारा उनकी पूजा करना, श्रेष्ठ वस्त्रालंकारों द्वारा उनका सत्कार करना और गुणस्तुत्यादि द्वारा उनका सन्मान करना, यह जन्मान्तर में भी श्री जिनधर्म की प्राप्ति कराने वाले होते हैं; और अन्त में जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःखों का स्पर्श भी जहां नहीं है ऐसे 'निरूपसर्ग' मोक्षपद को देने वाले होते हैं, ऐसा सूत्रकार भगवंत मूल सूत्रों में फरमाते हैं।

'चैत्यवन्दन' अर्थात् 'अरिहंतों की प्रतिमाओं का पूजन' कैसे होता है, इस सम्बन्ध में शब्दशास्त्र-विशारद फरमाते हैं कि—

"चित्तम्—अन्तःकरणं, तस्य भावः कर्म वा, प्रतिमालक्षणम् अर्हच्चैत्यम् । अर्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधि–चित्तोत्पादकत्वात् चैत्यानि भण्यन्ते ।"

चित्त यानी अन्यःकरण, अन्तःकरण का भाव अथवा अन्तःकरण की क्रिया, उसका नाम चैत्य है। अरिहंतों की प्रतिमाएँ अन्तःकरण की प्रशस्त समाधि को पैदा करने वाली होने से 'चैत्य' कहलाती हैं।

चैत्य शब्द का दूसरा अर्थ—

"चैत्यं जिनौकस्तद्बिंबम् ।"

श्री जिनगृह अथवा श्री जिनबिम्ब—ऐसा भी अर्थ कोषकारों ने किया है। उस चैत्य को वन्दन आदि करनें से शुभ भाव की वृद्धि होती है, शुभ भाव की वृद्धि से उत्तरोत्तर सम्मग्दर्शनादि विशुद्ध धर्मों की प्राप्ति होती है और इससे परंपरा से सर्व कर्म की मुक्ति आदि महत् कार्य भी सिद्ध होते हैं।

अर्हत् चैत्य यानी श्री अरिहंतों की प्रतिमाओं को वन्दन–पूजन आदि करने से सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणों की प्राप्ति और कर्मक्षय की सिद्धि होती है, ऐसा श्रीमद् हरिभद्रसूरि म० आदि सूरिपुंगवों ने ही फरमाया है ऐसा, नहीं, परन्तु पूर्व के पूर्वधर—भगवान् श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमणजी, दश पूर्वधर—भगवान् श्री उमास्वातिजी और चौदह पूर्वधर श्रुतकेवली भगवान् श्री भद्रबाहु स्वामीजी आदि अनेक सूरिपुरंदरों ने भी महाभाष्य, पूजा प्रकरण, आवश्यक निर्युक्ति आदि महाशास्त्रों में भी ऐसा फरमाया है। इतना ही नहीं, परन्तु मूल आवश्यक सूत्रकार गणधर भगवान् श्री सुधर्मास्वामीजी महा-

राज ने, कायोत्सर्ग, आवश्यक और उसके आलावों में भी स्पष्ट शब्दों में बताया है।

प्रतिमा-पूजन की सिद्धि और श्रेयः साधकता के लिए, इससे अधिक प्राचीन और प्रबल प्रमाण दूसरे भाग्य से ही हो सकते हैं। प्रतिमा-पूजन, यह किसी अज्ञानी, स्वार्थी साधु, या धूर्तपुरुष की कही हुई निरर्थक क्रिया नहीं है, किन्तु सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्त, निःस्वार्थी और शुद्ध पुरुषों ने स्व-पर-श्रेय के लिए बताई गई अजोड़ और अनुपम सफल धर्मक्रिया है। इसके अनेक प्रमाण इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर देने का प्रयास किया गया है। इन्हें ध्यान पूर्वक पढ़ने वाले किसी भी समदृष्टि वाचक को, स्पष्ट हुए बिना नहीं रहे कि—प्रतिमा-पूजन, यह अज्ञान या अविवेक में से उत्पन्न नहीं हुई है, परन्तु इसका खंडन ही घोर अज्ञान और अविवेक में से उत्पन्न हुआ है।"

प्रतिमा-पूजन जैसी सर्वोच्च आत्मकल्याणकर प्रवृत्ति के लिए व्यंग कसने वाले वर्ग के दो भाग हो जाते हैं। एक प्राचीन विचारश्रेणी का और दूसरा अर्वाचीन विचारश्रेणी का। प्राचीन विचारश्रेणी का वर्ग प्रतिमा-पूजन में हिंसा और उसे अधर्म मानता है और अर्वाचीन, विचारश्रेणी का वर्ग प्रतिमा-पूजन में बुद्धि की जड़ता और उसे अंध परम्परा मानता है! ये दोनों विचारश्रेणियां अज्ञान मूलक हैं। प्रतिमा-पूजन से हिंसा नहीं, परन्तु अहिंसा बढ़ती है तथा प्रतिमा-पूजन से बुद्धि की जड़ता नहीं बढ़ती है, किन्तु निर्मलता बढ़ती है तथा अंध अनुकरण के बजाय सर्वोत्कृष्ट ज्ञानियों के बताये ज्ञानमार्ग का अनुसरण होता है।

इस सम्पूर्ण पुस्तक में प्राचीन और अर्वाचीन दोनों श्रेणी के विचारों का प्रतिमा-पूजन सम्बंधी विरोध वाला मन्तव्य

कितना भूल भरा है, उसे समझाने का शक्य प्रयास किया गया है और प्रतिमा-पूजन से होने वाले उत्तरोत्तर लाभों का युक्ति, अनुभव और शास्त्र के आधार से हो सके उतना सत्य समर्थन किया गया है। प्रतिमा-पूजन के पक्ष सम्बंधी आज तक बहुतसा साहित्य शास्त्र के अनुसार प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में उसी बात को भिन्न प्रकार से समझाया गया है।

श्री जिन-प्रतिमा-पूजन, यह एक ऐसा विषय है कि उस पर अनेक महापुरुषों ने अनेक प्रकार से विचार किया है और उसके लाभ ढूंढने के लिए अपना जीवन लगाया है। उसके हार्द में वे जैसे जैसे गहरे उतरते गये हैं, वैसे वैसे उन्हें नया नया अनुभव दर्शन प्राप्त होता गया। इससे होने वाले सम्पूर्ण लाभों का अंत ढूंढना, बड़े बड़े योगियों को भी अगम्य हुआ है। ऐसे एक गहन, अनंत उपयोगी और सब का ही एकान्त कल्याण करने वाले विषय पर जितना अधिक विचार किया जावे और उसके लाभ ढूंढने के लिए जितनी अधिक सूक्ष्म गति दौड़ाई जावे, उतनी कम ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जो कुछ विचारणा की गई है, वह आजतक प्रकाशित हुई शास्त्रानुसारी साहित्य को ध्यान में रखकर हीं की गई है। प्रतिमा-पूजन यह साधुओं और गृहस्थों दोनों के लिए सामान्य और नित्य-धर्म है। इस नित्य-धर्म में जितनी श्रद्धा और समझ की शुद्धि और वृद्धि होती रहे, उतनी शुद्धि करने की आज के युग में अत्यंत आवश्यकता है।

वर्तमान समय धर्म के विषय में बहुत कम विचार किया जाता है। बहुत कम ऐसे प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, कि जो धर्म के विषय में गहरे उतरने का प्रयास करते हों। ऐसी स्थिति में धर्म के नाम पर गलत बातें जीवन में आ जाती हैं और

सही बातें चली जाती हैं, यह सहज-स्वाभाविक है। श्री जिन-प्रतिमा-पूजन एक सर्वोत्तम धर्मानुष्ठान है। इस कोटि का धर्मानुष्ठान और कोई अन्य हो, यह त्रिभुवन में भी असंभवित है। उसके सम्मुख अज्ञानता, पूर्वग्रह, कुशिक्षण, जड़वाद, उपेक्षा और धर्म-अवगणना आदि अनेक अनिष्टकारी बातें मुंह बाये खड़ी हैं। इन सब से स्वयं बचने और दूसरों को बचाने के लिए तैयार होने की जरूरत है। ऐसे समय में श्री जिन-प्रतिमा-पूजन की श्रेष्ठता सिद्ध करने वाला यही नहीं, किन्तु अनेक प्रकार का साहित्य प्रकाशित करने की आवश्यकता है। इस कार्य का एक अंश भी इस पुस्तक द्वारा पूरा हो, तब भी यह प्रयास सफल हुआ ही समझा जायगा।

इस पुस्तक में दी गई प्रश्नोत्तारी आज से बहुत वर्ष पहले प्रकाशित 'मूर्ति-मण्डन-प्रश्नोत्तर' नामक ग्रन्थ के आधार पर तैयार की गई है। इसमें जो कमी रह गई हो, तो उसके लिए 'मिच्छामि दुक्कड़' देने के साथ, पाठकों को वे कमियां गीतार्थ गुरुओं के पास से सुधार लेने को खास भलामण है।

करमचंद जैन हॉल :
अंधेरी : सं० १९९७-पौष सुद ८
ता० ९-१-१९४१

मुनि भद्रंकरविजय

"'प्रतिमा-पूजन'"

'प्रतिमा पूजन की पारमार्थिक श्रेयः साधकता'

अज्ञान का साम्राज्य और कुयुक्तियों का प्राबल्य :

इस दुनियां में ज्ञानी जितना उपकार कर सकते हैं उससे अधिक अपकार अज्ञानी कर सकते हैं। सुयुक्तियों की संख्या की अपेक्षा कुयुक्तियों की संख्या अधिक है। सम्यग्दृष्टि आत्माओं की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आत्माएँ अनन्तगुनी हैं यह बात जितनी सत्य है उतनी ही सत्य बात यह भी है कि ज्ञानियों का ज्ञान-सूर्य और उसकी जाज्वल्यमान किरणें जहां फैलती हैं वहां कैसा भी घोर अन्धकार क्यों न हो वह एक क्षण भर में दूर हुए बिना नहीं रह सकता।

"श्री वीतराग की मूर्ति की पूजा करें या नहीं ?"

इस विषय को भी बहुतों ने विवादास्पद बना रखा है। सिद्धान्तवेदी समग्र महापुरुषों ने एक मत और एक ही स्वर में फरमाया है कि "श्री वीतराग देव की आराधना मुख्यतया उनकी मूर्ति के द्वारा ही सम्भव है। इसके सिवाय अन्य कोटि उपायों से भी वह सुशक्य नहीं है।" दूसरी ओर अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि आत्माओं ने इसके विपक्ष में अनेक कुयुक्तियाँ उपस्थित कर ज्ञानी पुरुषों द्वारा प्रदर्शित पवित्रमार्ग को अवरुद्ध करने का प्रयास करने में जरा भी कमी नहीं रखी है।

ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का साम्राज्य जगत् में विशेषतः व्याप्त है, इसलिए कुतर्कों का प्रभाव अज्ञानी और सरल वर्ग

पर हुए बिना नहीं रह सकता। एक ओर तो स्वभावतः अज्ञान का साम्राज्य और दूसरी ओर कुतर्कों का प्राबल्य–दोनों का मिलन होने से श्री वीतरागदेव की पवित्र मूर्ति और उसकी परमकल्याणकारी उपासना से भी अज्ञानी और सरल आत्माओं का मन विचलित हुए बिना न रहे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

नास्तिक से भी परमार्थ से नास्तिक ऐसे आस्तिक द्वारा विशेष अनर्थ होता है :

मूर्ति नहीं मानने के मत की उत्पत्ति जैसे भयंकर अज्ञान में से ही हुई है उसी प्रकार मूर्ति की उपासना को एक हिंसक कर्त्तव्य के रूप में जानने की अथवा पहिचान करवाने की कुबुद्धि भी क्रूर मिथ्यात्व में से ही उद्‌भूत हुई है। सामान्य आत्माएं स्वतः इस मत की भयंकर अज्ञानता और क्रूर हित घातकता समझ सकनें स्थिति में नहीं होती और इसीलिए ज्ञानीजनों ने इसे समझाने का भगीरथ प्रयत्न किया है।

आत्मा और परलोक आदि विद्यमान और प्रमाण सिद्ध पदार्थों को नहीं मानने वाला नास्तिक जितना अनर्थ नहीं करता है, उससे भी अधिक अनर्थ आत्मा आदि को मानते हुए भी उसके आंशिक स्वरूप को नहीं मानने अथवा विपरीत प्रकार से मानने वाला आस्तिक करता है, इसीलिए श्री जैन दर्शन में ऐसी आत्माएँ व्यवहार से आस्तिक मानी जाने पर भी परमार्थ से नास्तिकों की श्रेणी में ही आती है।

श्री जिनेश्वरदेव के सत्य वचनों को उनके उसी स्वरूप में ग्रहण न कर विपरीत रूप में ग्रहण करने में भी श्री जिनशासन

में आस्तिक्य का भंग अर्थात् एक प्रकार की नास्तिकता ही है। प्रकट नास्तिकता से जो हानि पहुँचती है: उससे भी अधिक हानि प्रच्छन्न नास्तिकता से हो जाती है। प्रकट नास्तिक के लिए सुसंयोगवश आस्तिक बनने की जितनी संभावना है उतनी संभावना प्रच्छन्न नास्तिक के लिए प्रायः नहीं है, क्योंकि वास्तविक प्रकार का आस्तिक नहीं होते हुए भी अधिकांशतः आस्तिकता के मिथ्याभिमान में मग्न होकर वह समस्त जीवन को नष्ट करनें वाला होता है।

नाम और आकार के आलंबन की आवश्यकता :

श्री जिनेश्वरदेव, उनके मार्ग पर चलने वाली निर्ग्रंथ गुरुओं और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म—इन तीनों को मानते हुए भी इन तीनों की साधना जितनी २ विधियों से होती है उन सब विधियों को नहीं मानने वाली आत्माएँ श्री जिन-शासन के परमार्थ आस्तिक के रूप में टिक नहीं सकती।

"श्री जिनेश्वर देव की साधना जिस प्रकार उनके नाम स्मरण से होती है, उनके गुण स्मरण से होती है, उनके पूर्वा-पर के चरित्रों के श्रवण से होती है, उनकी भक्ति से होती है, उनकी आज्ञाओं के पालन से होती है, उसी प्रकार उनके आकार, मूर्ति या प्रतिबिम्ब की भक्ति से भी होती ही है,"—यह सत्य जब तक स्वीकार न किया जाय तब तक श्री जिनेश्वर देव की कृत उपासना भी अपूर्ण ही रहती है।

श्री जिनेश्वर देव की पूजा कोई कल्पित वस्तु नहीं अथवा अपना स्वार्थ साधने के लिए किन्ही धूर्त व्यक्तियों के द्वारा आविष्कृत वस्तु नहीं है। यह तो भक्त आत्माओं के

के हृदय की गहरी भक्ति में से निकली हुई एक सहज और अनिवार्य वृत्ति तथा प्रवृत्ति है।

जगत् के सभी प्राणियों की चित्तप्रवृत्ति अपने २ इष्ट पदार्थों के गुण-धर्म की तरह रूप-रंग के प्रति स्वाभाविक रूप से झुकी हुई होती है। इतना ही नहीं परन्तु छद्मस्थ आत्माएँ वस्तु के गुण धर्म की पहिचान बहुधा उसके रूप-रंग के आधार पर ही करती हैं। मूर्त पदार्थों के गुण-धर्म भी अधिकांशतः अमूर्त (इन्द्रिय अगोचर) होते हैं तो फिर अमूर्त पदार्थों के गुण-धर्म सम्पूर्णतया अमूर्त हों तो इसमें आश्चर्य जैसी बात ही क्या है ? अमूर्त पदार्थों के अमूर्त गुण-धर्मों का स्वरूप, उनके नाम और आकार को छोड़ कर अन्य प्रकार से जाना जाय, ऐसा उपाय इस जगत् में आज तक खोजा नहीं गया है। अमूर्त अथवा मूर्त दोनों में से एक भी पदार्थ के सभी गुण-धर्मों और उसके स्वरूप का बोध छद्मस्थ आत्माओं को उनके नाम और आकार के आलंबन के बिना लेश मात्र भी नहीं हो सकता। ऐसा होते हुए भी "उसकी भक्ति या उपासना उसके नाम अथवा आकार का आलंबन लिए बिना ही हो सकती है" ऐसा मानना एक भयंकर भूल है।

'नाम' की भक्ति को स्वीकार करने वाला आकार की भक्ति को इन्कार नहीं कर सकता :

नाम की भक्ति को स्वीकार करने के बाद आकार की भक्ति की उपेक्षा करना तो और भी भयानक भूल है। उपास्य का नाम केवल उसके गुणों को लक्ष्य कर नहीं होता परन्तु उसके

देहाकार को लक्ष्य कर होता है। यदि उपास्य का नाम केवल उसके गुणों को लक्ष्य कर होता तो प्रत्येक उपास्य को भिन्न भिन्न नाम देने की आवश्यकता ही नहीं रहती। विभिन्न उपास्यों के समान गुण होते हुए भी उनके देहाकार आदि समान नहीं होते इसीलिए ही प्रत्येक का नाम अलग अलग दिया हुआ रहता है। देहाकार के नाम की भक्ति का फल मानते हुए भी साक्षात् देहाकार की भक्ति को निष्फल मानना-बुद्धि की जड़ता के सिवाय और कुछ नहीं है।

नाम अथवा नाम की स्थापना--यह शब्दात्मक जड़ पुद्गलों से बनी हुई है; ठीक उसी प्रकार देहाकार अथवा उसकी स्थापना भी जड़ पुद्गलों से बनी है। शब्दात्मक और स्वल्प जड़ पुद्गलों की भक्ति को फलवती मानना एवम् इन्हीं शब्दों से उत्पन्न असाधारण निमित्त-स्वरूप आकारात्मक विशालकाय बने हुए जड़ पुद्गलों की भक्ति को निष्फल अर्थात् पापवर्धक मानना यह तो क्षुद्र बुद्धि का ही परिणाम कहा जा सकता है।

नाम यदि कल्याणकारी है तो यह नाम जिस स्वरूप का है वह स्वरूप अधिक कल्याणकारी है—इसमें किसी भी बुद्धिशाली व्यक्ति के दो मत हो ही नहीं सकते।

सावद्य-निरवद्य का विचार :

'नाम की भक्ति निरवद्य है तथा आकार की भक्ति सावद्य है'–ऐसा तर्क करने वाले सावद्य-निरवद्य के भेद को नहीं समझ सके हैं। भक्ति अथवा गुण प्राप्ति के किसी भी कार्य को सावद्य कहना–यह श्री जैन शासन को मान्य नहीं है; इतना ही नहीं

किन्तु कोई भी सभ्य व्यक्ति इस कथन से सहमत नहीं हो सकता। अधिक सावद्य से बचने के लिये अल्प सावद्य के उपयोग को भी यदि सावद्य का कार्य माना जाय तो इस धरती पर कोई भी निरवद्य कार्य नहीं रहेगा अथवा रहेगा तो केवल एक ही जिसमें हाथ पैर हिलाये बिना शून्य रूप से (जड़वत्) बैठे रहना या सोए रहना होगा। दूसरे शब्दों में मृतावस्था ही निरवद्य बन कर शेष रहेगी। संपूर्ण जीवित अवस्था सावद्य है। इस स्थिति को भक्ति अथवा गुण प्राप्ति के कार्य में आरोपित करना यह तो भक्ति तथा गुण रहित रहने एवं रखने का ही एक राजमार्ग है।

बालक ज्ञान रहित एवं क्रीड़ाशील स्वभाव का होता है। उसे ज्ञानी बनाने के प्रयत्न करने पर भी अपने खेलने के स्वभाव के कारण वह शीघ्र ज्ञानी नहीं बन सकता पर केवल इसी बात पर बालक के अज्ञानी रहने का दोष पढ़ाने में प्रयत्नशील शिक्षक को नहीं दिया जा सकता। शिक्षक पर ऐसा दोष लगाना जैसे अनुचित है वैसे ही सदा सावद्य जीवन जीने वाले भक्त व्यक्ति की भक्ति की क्रिया को सावद्य कहना भी अनुचित है।

मांस भोजी व्यक्ति को मांसाहार की आदत छुड़वाने के लिये कोई उपकारी यदि उसे वनस्पति आहार की सलाह दे तो केवल इतने पर से ही वनस्पति को सेवन करने वाला अथवा ऐसी सलाह देने वाला हिंसक है अथवा हिंसक बन जाता है--ऐसा मानना दीवानापन ही है। इसी प्रकार यदि कोई वैश्या पतिव्रता बनने का प्रयत्न करे अथवा कोई चोर अपनी चोरी का कार्य छोड़कर किसी धंधे पर लगने का प्रयत्न करे तो वह पापी अथवा हिंसक बन जाता है--ऐसा कहना जितना निर्बुद्धि-

पूर्ण एवं उपहासास्पद है उतना ही उपहासास्पद यह कहना है कि त्रसजीवनिकाय की हिंसा की अपेक्षा जिसमें बहुत कम हिंसा रहती है ऐसे पदार्थों से उपास्य की भक्ति करे तथा सर्वत्याग-स्वरुप महान् गुण की प्राप्ति तक पहुंचने का प्रयत्न करे–ऐसे व्यक्ति का कार्य हिंसापूर्ण है अथवा इस कारण उसका आचरण सावद्य है।

उपास्य के आकार की भक्ति के लिये की जाने वाली हिंसा भक्ति–निमित्तक हिंसा नहीं है पर वह केवल उपासक के स्वाभाविक हिंसक जीवन की अभिव्यक्ति है। उपासक के स्वाभाविक जीवन में हिंसा समाई हुई है अतः वह जितना समय भक्ति कार्य में देता है उतने समय तक वह इस स्वाभाविक हिंसा से मुक्त रहता है; इतना ही नहीं परंतु पूर्ण अहिंसत्व की प्राप्ति के लिये अहिंसा धर्म की चोटी पर पहुंचे हुए परम् अहिंसक परमात्मा की वह भक्ति करता है और इसके परिणाम-स्वरूप वह भविष्य में सावद्य से हटकर निरवद्यता की ओर अधिक से अधिक आगे बढ़ता है। अपने जीवन की स्वाभाविक सावद्यता का आरोप भक्ति अथवा गुण प्राप्ति के कार्यों पर करने वाला अज्ञानी व्यक्ति ऊपर बताये हुए सभी लाभों से वंचित रह जाता है; इतना ही नहीं पर परमोपास्य की भक्ति के एकमात्र राजमार्ग से स्वयं भी च्युत होता है तथा दूसरों को भी च्युत करता है।

आकार को नहीं मानने की बातें केवल अज्ञान जन्य है।

नाम-भक्ति या आकार-भक्ति को छोड़कर केवल गुण-भक्ति की बातें करने वाले अथवा नाम भक्ति को मानकर आकार भक्ति को छोड़ देने वाले–उपास्य की भक्ति कर सकते है–ऐसा मानना

केवल आत्मवंचना है। नाम एवं आकार के बिना अरूपी उपास्य अथवा उनके गुणों का ग्रहण सर्वथा असंभव है।

नाम आकार के बोध द्वारा उपास्य के गुणों की याद दिलाता है जबकि आकार नाम के अवलंबन बिना उसके साक्षात् गुणों का स्मरण करवाता है। नाम और आकार के जगत् में रहकर नाम एवं आकार की बातों को नकारना बुद्धि का द्रोह है। अपने इष्ट की साकार भक्ति में अविश्वास करने वालों को भी प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप से अपने इष्ट से संबंध रखने वाली वस्तुओं के आकार की भक्ति में विश्वास करना ही पड़ता है।

उदाहरण स्वरूप एक मुसलमान अपने आराध्य की प्रतिमा को सीधी तरह से मानने से इन्कार करता है फिर भी एक छोटी मूर्ति और उसके अंगों की भक्ति के बदले उसके हृदय में पूर्ण मस्जिद, मस्जिद का पूरा आकार तथा इसके एक एक अवयव की भक्ति आ ही पड़ती है। मूर्ति में विश्वास नहीं रखने वाला कट्टर मुसलमान मस्जिद की एक एक ईंट को मूर्ति की तरह ही पवित्रता की दृष्टि से देखता है तथा उसकी रक्षा हेतु अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता। मूर्ति पर नहीं तो मस्जिद की पवित्रता पर उसका इतना विश्वास बैठ जाता है कि इसके लिए वह अपने प्राण देने पर अथवा दूसरे के प्राण लेने को तैयार हो जाता है। मूर्ति के अपमान के स्थान पर उसे मस्जिद का अपमान खटक जाता है।

मस्जिद भी आकार वाली एक स्थूल वस्तु ही है। ऐसी वस्तु अपने इष्ट का साक्षात् बोध कराने के बदले परम्परा से तथा

कठिनाई से बोध करवाती है जबकि इष्ट की मूर्ति इसका साक्षात् बोध करवाती है तथा इष्ट जितना ही पवित्र भाव पैदा करती है।

मुस्लिम बाह्य से मूर्तिपूजक न होने पर भी जैसे हृदय से अपने इष्ट की मूर्ति का पुजारी है वैसे ही कोई आर्य समाजी, ब्रह्मसमाजी अथवा प्रार्थनासमाजी, कबीर पंथी, नानक पंथी अथवा तेरापंथी का हृदय भी इष्ट की मूर्ति की भक्ति की उपेक्षा नहीं कर सकता। अपने इष्ट एवं आराध्य की प्रतिमा अथवा चित्र का अपमान इनमें से कोई भी सहन नहीं कर सकता। मूर्ति पूजक अथवा अपूजक दोनों को ऐसे प्रसंगों पर समान आंतरिक वेदना होती है; फिर भी जब आकार को नहीं मानने की बात होती है तब ऐसा ही लगता है कि ऐसी बातें केवल अज्ञानजनित ही हैं; विश्व के पदार्थों की वास्तविक व्यवस्था के अज्ञान से ही ऐसी बातों का जन्म होता है।

पदार्थ मात्र की चार स्थिति :

विश्व के प्रत्येक पदार्थ की कम से कम चार स्थिति होती है; नाम, आकार, पिंड और वर्तमान अवस्था। वस्तु की वर्तमान भाव अवस्था जिस प्रकार वस्तु का बोध कराती है उसी प्रकार इस वस्तु की विगत और भावी अवस्था, इस वस्तु का आकार तथा इस वस्तु का नाम भी वस्तु का ही बोध कराती है।

कार्य-कारण आदि संबंध :

इस जगत् में प्रत्येक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध होता ही है। ये संबंध नाना प्रकार के

होते हैं। कोई सम्बन्ध कार्यकारण रूप होता है तो कोई जन्य-जनक रूप; कोई स्व-स्वामित्व रूप होता है तो कोई तादात्मय तथा तदुत्पत्ति रूप भी होता है।

अग्नि और धुँए का कार्य-कारण रूप सम्बन्ध है तथा कुम्हार एवं घड़े का जन्य-जनक रूप। मालिक और नौकर का स्व-स्वामित्व रूप, घड़ा और घड़े के स्वरूप का तादात्मय रूप तथा घड़े और मिट्टी का तदुत्पत्ति रूप सम्बन्ध होता है। इसी भांति शब्द एवं अर्थ का तथा स्थापना और स्थाप्य का भी परस्पर सम्बन्ध है जो क्रम से वाच्य-वाचक तथा स्थाप्य-स्थापक सम्बन्ध कहलाता है।

जिस प्रकार धुँए के ज्ञान के साथ इसके कारण रूप अग्नि का ज्ञान भी ज्ञाता को होता है परन्तु उसके कारण के रूप में अग्नि को छोड़ कर अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता अथवा घड़े को देखते ही उसके निर्माता के रूप में कुम्हार का ज्ञान होता है न कि किसी और का अथवा तो उसके उपादान के रूप में मिट्टी का ज्ञान होता है परन्तु तंतु आदि का ज्ञान नहीं होता है, इसी प्रकार अग्नि अथवा घड़ा शब्द सुनते ही प्रत्येक को अग्नि और घड़े का ही निश्चित बोध होता है; परन्तु अन्य किसी पदार्थ का बोध नहीं होता, अथवा अग्नि या घड़े का चित्र देखकर दर्शक को अग्नि और घड़े का ही स्मरण हो आता है; अन्य किसी पदार्थ का स्मरण नहीं होता है।

यह बात निश्चित रूप से यह बताती है कि कार्य-कारण सम्बन्ध की भाँति वस्तु का वाच्य-वाचक एवं स्थाप्य-स्थापक आदि सम्बन्ध भी विद्यमान है। कार्य-कारण सम्बन्ध को

मानना पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध को न मानना—यह अज्ञानता है। वाचक शब्द निश्चित रूप से वाच्य का बोध करवाता है अतः इस सम्बन्ध का कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता है।

नाम-स्थापना के दो दो प्रकार :

नाम दो प्रकार के होते हैं, ठीक वैसे ही स्थापना भी दो प्रकार की होती है। घट पदार्थ का 'घड़ा' ऐसा नाम तथा घड़ा पदार्थ रहित शरीरादि अन्य पदार्थ का 'घट'—ऐसा नाम—इसी प्रकार घड़े पदार्थ का आकार वह भी स्थापना और घड़ाकार का चित्रादि में आलेखन वह भी घड़े की स्थापना।

मूल वस्तु के आकार अथवा मूल आकार की भिन्न वस्तुओं के आकार में कोई भिन्नता नहीं होती अतः दोनों को एक ही नाम से पुकारा जाता है और दोनों अपने स्थाप्य का समान बोध कराती हैं। हाथी घोड़ों के प्रत्यक्ष आकार अथवा उनके चित्र, राजा रानी के प्रत्यक्ष आकार अथवा उनके चित्रित आकार हाथी घोड़े अथवा राजा रानी का ही बोध कराते हैं न कि किसी अन्य पदार्थ का। मूल वस्तु जिस प्रकार स्थापना से पहचानी जाती है, इसी तरह स्थापना वस्तु भी आकार से ही पहचानी जाती है। दोनों की पहचान आकार से होने के कारण दोनों द्वारा बोध कराने का कार्य समान रूप से ही होता है।

उपास्य देव और उनकी स्थापना—दोनों की पहचान आकार से होती है। इसलिए ये दोनों एक ही नाम से सम्बोधित

होते हैं। पहचान, स्मरण अथवा भक्ति के लिये भाव पदार्थ में निहित आकार अथवा भिन्न पदार्थ में निहित आकार समान कार्य करता है। तीर्थंकर, श्री गणधर तथा अन्य इष्ट एवं आराध्य पुरुष अपने-काल में स्वयं के आकार से ही पहचाने जाते थे क्योंकि अवधि, मनः पर्यव आदि अतीन्द्रिय ज्ञानों को धारण करने वाले महर्षि भी तीर्थंकरों के अमूर्त आत्मा अथवा उनके गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने में समर्थ नहीं थे। वे भी उन महर्षियों को उनके औदारिक देह रूपी पिंड अथवा उनके आकार से ही पहचानते थे। तो फिर अतीन्द्रिय ज्ञान रहित अन्य छद्मस्थ आत्माएं उन्हें उनके पिंड अथवा आकार से ही पहचान पाते हैं—इसमें विशेषता क्या है ?

उपास्य को पहचानने अथवा उनका परिचय कराने का कार्य जैसे उनके मूल आकार से होता है वैसे ही अन्य वस्तु में स्थापित उपास्य के आकार से भी वह कार्य हो जाता है; इससे उपास्य की आकारमय स्थापना भी उपासक के लिये उपास्य के समान ही माननीय, पूजनीय एवं वंदनीय बन जाती है। यह बात अविवादास्पद है।

पत्थर की गाय दूध भले ही न दे पर—

प्रतिमा-पूजन से उसके गुणों को तो प्रकट किया हीं जा सकता है :

यहाँ पर कई ऐसा तर्क करते हैं कि—

"पत्थर की गाय आदि उन वस्तुओं को पहचानने के लिये उपयोगी भले ही साबित हो पर दूध देने के लिये तो वह

निरर्थक ही रहती है : वैसे ही उपास्य की स्थापना उपास्य की पहचान कराने का कार्य भले ही करती हो परन्तु सम्यग्दर्शनादि धर्म की प्राप्ति स्थापना से किस प्रकार हो सकती है ? इसके लिये वास्तविक गाय को दुहना जिस प्रकार आवश्यक है इसी प्रकार मूल उपास्य की उपासना सार्थक सिद्ध होती है ।"

उनका यह तर्क अज्ञानजन्य ही है । इसमें दृष्टांत-दृष्टान्तिक का वैषम्य है । दूध द्रव्य है जबकि सम्यग्दर्शनादि धर्म गुण है । दूध रूपी द्रव्य की प्राप्ति गाय से करनी है; जबकि सम्यग्दर्शनादि धर्म की प्राप्ति उपास्य से नहीं करनी है परन्तु उपासक को तो उसे अपनी आत्मा में से ही प्रकट करना है । इसको प्रकट करने में उपास्य तो केवल माध्यम है ।

जिस प्रकार उपास्य का मूल पिंड व उसका आकार निमित्त रूप बनता है इसी प्रकार उपास्य की स्थापना भी वैसे निमित्त रूप बन ही सकती है । उपासक जैसे उपास्य की उपस्थिति में उसके मूल आकार की सेवा-भक्ति से सम्यग्दर्शनादि गुणों को ढकने वाले आवरणों को हटाकर स्वयं के आत्मगुणों को प्रकट कर सकता है, वैसे ही उपास्य की अनुपस्थिति में उपास्य की स्थापना की सेवा-भक्ति द्वारा भी उपासक उन गुणों को ढकने वाले आवरणों को हटाकर आत्मगुणों को अवश्य प्रकट कर सकता है ।

कारीगर को मकान पूजनीय नहीं पर हमें देव पूजनीय हैं :

उपास्य की अनुपस्थिति में उसकी उपासना उपासक के लिये किसी मकान के प्लान के समान है । मकान की अनिर्मित

अवस्था में कुशल कारीगर उसके प्लान को ही बार-बार देखकर भवन निर्माण के कार्य को पूरा कर सकता है। जब तक मकान पूरा नहीं बन जाता कारीगर को वह प्लान हर घड़ी अपनी नजरों के सामने रखना पड़ता है। ठीक उसी भांति अपनी आत्मा को उपास्य सम बनाने हेतु उपासक को, जब तक उपास्य जैसी निर्मलता प्राप्त नहीं हो जाती तब तक, उपास्य की स्थापना को प्रतिपल अपने सम्मुख रखना ही पड़ता है, यह सर्वथा स्वाभाविक है।

ऐसी स्थिति में कई यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि—"शिल्पी की आवश्यकता भवन के प्लान को अपनी नजर के सामने रखने की है न कि उसकी पूजा करने की। वैसे ही उपास्य के समान बनने के लिये उपासक अपनें आराध्य की मूर्ति को अपनी दृष्टि के सम्मुख भले ही रख ले पर उसकी पूजा से क्या तात्पर्य ? कारीगर प्लान की पूजा करे यह जितना अघटित और हास्यास्पद हैं, उतना ही अघटित और हास्यास्पद जड़ स्थापना का पूजन करनें में है ऐसा माननें में क्या दोष है ?"

यह तर्क ऊपरी दृष्टि से जरा आकर्षक लगता है परन्तु तनिक गहराई से सोचनें पर उसका खोखलापन स्पष्ट दिखाई देता है। कारीगर के लिए जिस मकान का प्लान निरंतर देखनें योग्य है, वह मकान उपासना के योग्य नहीं है जबकि उपासक जिस देवकी प्रतिमा की पूजा करता है वह स्थाप्य उसके लिये वंदनीय, पूजनीय एवं उपासनीय है। प्लान का स्थाप्य (मकान) जिस प्रकार अपूजनीय है इसी प्रकार जिसकी प्रतिमा है वह स्थाप्य भी यदि अवन्दनीय, अपूजनीय होता तो अवश्य उसकी

प्रतिमा का पूजन आदि निरर्थक ठहरता, परन्तु यहाँ तो स्थापना के विषय में स्थाप्य परम उपास्य है ।

साक्षात् आराध्य की उपासना से उपासक जिस प्रकार कार्य सिद्धि प्राप्त करता है; उसी प्रकार स्थाप्य की प्रतिमा की उपासना से भी उसकी कार्य-सिद्धि होती है ।

यदि मूल वस्तु पूजनीय है तो उसका नाम भी पूजनीय बन जाता है । ऐसी स्थिति में उसका आकार आदि भी पूजनीय बन जाये तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

पूजा का फल पूजक के परिणाम पर आधारित है :

यहां इतना समझ लेना चाहिये कि जैन-शासन में उपास्य की भावावस्था की पूजा भी उपासक के शुभ परिणाम के अनुसार ही फल देती है, परन्तु उपास्य की प्रसन्नता अथवा अन्य किसी नियमानुसार नहीं ! क्योंकि जैन-शासन के उपास्य तो वीतराग होने से वे कभी भी प्रसन्न—अप्रसन्न नहीं होते हैं, हां, व्यवहार की अपेक्षा से इतना कह सकते हैं कि वे तारक हमेशा प्राणी मात्र पर एक समान प्रसन्न रहने वाले तथा कृपा रस से भरपूर है– इतना होने से जब तक उपासक उनके प्रति सन्मुख वृत्ति वाला अथवा आराधक मनोभाव वाला नहीं बनता है, तब तक वह कुछ भी फल प्राप्त नहीं कर सकता है ।

आराधक को अपने शुभ परिणाम से ही तिरने का है, इस शुभ परिणाम की जागृति के लिए जैसे आराध्य का साक्षात् देह तथा उसका आकार जिस प्रकार वंदन-पूजन तथा नमस्कारादि में निमित्त बनता है, वैसे ही आराध्य की स्थापना भी

उनकी पूजा आदि द्वारा आराधक के परिणामों को निर्मल बनाती है।

श्री वीतराग की साक्षात् उपासना भी जैसे श्री वीतराग को लेश भी उपकारक नहीं है, फिर भी वह पूजक के लिए उपकारक बनती है वैसे ही श्री वीतराग की स्थापना की उपासना भी श्री वीतराग को किसी भी प्रकार से लाभदायक नहीं होने पर भी, उपासकों को तो अवश्य लाभ करती है ? क्योंकि इससे उपासक को गुण, बहुमान, कृतज्ञता, विनयादि गुणों का पालन अवश्य सिद्ध होता है। दोष-निवारण व गुण-प्राप्ति आदि की प्रेरणा भी अवश्य होती है। गुण बहुमान आदि एक-एक कार्य भी महान् कर्म निर्जरा कराने वाला है, तो फिर वे समस्त कार्य जहां एक साथ सिद्ध होते हैं, ऐसे श्री वीतराग (उनकी स्थापना द्वारा की जाती) उपासना सुज्ञ पुरुषों को अत्यन्त आदरणीय बनें, इसमें आश्चर्य भी क्या है ?

ईश्वर को विविध रूपों में मानने वालों के लिए भी स्थापना को स्वीकार करना ही पड़ता है :

अपने उपास्य को वीतराग मानने वाले को, अपने उपास्य की उपासना हेतु, जिस प्रकार मूर्ति आदि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जो अपने आराध्य को वीतराग नहीं मानकर रागी मानते हैं, उनको भी, अपने आराध्य की उपासना के लिए उसकी स्थापना की आवश्यकता होती है। तथा राग-द्वेष पूर्ण होते हुए भी अपने आराध्य को सर्वज्ञ मानने वाले उनकी प्रतिमा द्वारा होने वाली आराधना या विराधना से प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होते हैं—वह स्वाभाविक है। ऐसे रागी और

द्वेषी परमेश्वर का नाममात्र जपने पर भी अपनी इष्ट सिद्धि हो जाती है—ऐसा मानने वाले उनकी प्रतिमा की पूज्यता (जिसमें नाम स्मरण अवश्य आ जाता है) में विश्वास न करें अथवा इससे इष्टसिद्धि होती है–ऐसा नहीं मानें–यह कैसे हो सकता है ?

जो अपने इष्ट को सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी मानते हैं उनका कहना है कि जिस भांति विशाल हाथी या पर्वत एक छोटे दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाता है और उस समय उसका आकार मात्र ही छोटा बनता है परन्तु उसके शरीर के सभी अवयव वैसे ही रहते हैं उसी भांति व्यापक ईश्वर की प्रतिमा की आराधना साक्षात् व्यापक ईश्वर की आराधना जितनी ही फलवती होनी है।

सामान्य व्यक्ति के जिए व्यापक ईश्वर की कल्पना असंभव है। ऐसा तो उसकी प्रतिमा द्वारा ही संभव होता है और उसकी उपासना में उपासक एकाग्रता से लग सकता है। साथ ही सर्वव्यापी ईश्वर उसकी मूर्ति में भी रहता ही है अतः उस मूर्ति में भी परमात्मा का अंश आ जाता है तथा उस मूर्ति की आराधना से परमेश्वर की आराधना अवश्य होती है। साथ ही व्यापक ईश्वर अवतार रूप में प्रकट होते हैं। उस समय उनको छोटा शरीर धारण करना पड़ता है। ऐसी दशा में इस अवस्था की पूजा के लिए भी मूर्ति को मानने की आवश्यकता होती है।

अब जो लोग गोखला आदि की स्थापना कर अपनें इष्ट का वंदन, नमन आदि करते हैं उनको स्थापना में तो विश्वास करना ही पड़ता है परंतु इस स्थापना में आकार आदि का साम्य न होने से ऐसे लोगों की दशा दोनों ओर से भ्रष्ट होने जैसी बन जाती

है। इन्हें अपना मत छोड़ना पड़ता है और फल की प्राप्ति भी नहीं होती। जो स्थापना में तनिक भी विश्वास नहीं रखते वे अपने सम्मुख किसको रख कर वन्दन, नमस्कार आदि करते हैं ? यह अत्यन्त विचारणीय है।

किसी वस्तु को सामने रखे बिना जो वंदन, नमन करते हैं उन्हें विचार शून्य एवं अयोग्य आचरण करने वाले कह सकते हैं। अपने इष्ट की मानसिक-मूर्ति की कल्पना कर, उसके सन्मुख वन्दन-नमस्कारादि करते हों, तो ऐसी अदृश्य एवं अस्थिर मूर्ति को वन्दन-नमन करने से यदि फल की प्राप्ति होती है तो दृश्य एवं स्थिर मूर्ति के सम्मुख साक्षात् वन्दन-नमन करने से अपेक्षाकृत अधिक ही फल मिलता है—इस बात से वे कभी इन्कार नहीं कर सकते। ऐसी मानसिक मूर्ति की कल्पना करने की शक्ति सामान्य व्यक्ति में सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं परन्तु उस मूर्ति का कल्पित रूप ध्यान में लाने की शक्ति भी दृश्य एवं स्थिर मूर्ति को देखने से ही आ सकती है अत: सही रूप में कल्पित मूर्ति से दृश्य मूर्ति ही उपकारक होती है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

श्री जैन शासन के अनुयायी अपने इष्ट एवं उपास्य के रूप में सर्वज्ञ और वीतराग परमात्मा को मानते हैं। ये परमात्मा मोक्ष जाने से पूर्व थोड़े या अधिक समय तक देहधारी होते हैं, ऐसी भी जैनों की मान्यता है और इसीलिये इनको अपने आराध्य का तत्कालीन आकार अवश्य पूजनीय है। कभी भी देह धारण नहीं करने वाले परमात्मा शास्त्र-रचयिता कदापि नहीं बन सकते हैं।

जो अपने इष्ट परमात्मा को शास्त्रों एवं तत्त्वों के निरूपक के रूप में मानते हैं उन्हें अपने इष्ट का देहधारण मानना ही पड़ेगा। कारण यह है कि देहधारण बिना मुख का होना असम्भव है और मुख बिना उपदेशक बनने की स्थिति भी असम्भव है। अपनें परमात्मा को सर्वथा एवं सर्वदा शरीर रहित माननें वालों को यह भी मानना पड़ेगा कि इनके शास्त्र ईश्वर रचित नहीं परन्तु ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य अल्प बुद्धि एवं अल्प शक्ति वाले के कहे हुए हैं और उनके शास्त्रों की प्रामाणिकता सर्वज्ञ एवं सर्व शक्तिमान परमात्मा के वचनों के बराबर कभी भी नहीं बन सकती है।

जैनों की मान्यता :

जैन अशरीरी सिद्धों की पूजा करते हैं। इस देह रहित सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिये इन आत्माओं ने जो कुछ भी प्रयोग किये हैं वे उनकी साकार और देह युक्त अवस्था में ही किये हुए हैं अतः इस अवस्था की पूजनीयता भी जैनों को निश्चित रूप से मान्य है।

जैन परमात्मा को साकार और निराकार-दोनों ही रूपों में मानते हैं। साकार परमेश्वर को वीतराग एवं सर्वज्ञ मानने के साथ साथ ही वे उसे शास्त्र और तत्त्वों का उपदेशक भी मानते हैं। इसीलिये इनको निराकार एवं साकार परमेश्वर की वे सभी अवस्थाएँ वंदनीय, नमनीय एवं पूजनीय हैं। यदि वे उपकारियों की ऐसी भावदशा को भी वंदनीय न मानें तो गुणवान होते हुए भी वे सर्वगुण सम्पन्न आत्माओं का आदर करने वाले नहीं बन सकते तथा उपदेश आदि द्वारा स्वयं के ऊपर किये गये अतुलनीय उपकारों को नहीं पहचानने वाले साबित

होते हैं। ऐसी स्थिति निष्ठुर एवं कृतघ्न की ही सम्भव है; अन्य की नहीं। वीतराग, सर्वज्ञ तथा तत्त्वोपदेशक परमेश्वरों की पूजनीयता को स्वीकार करने में किसी भी सज्जन व्यक्ति को तनिक भी आपत्ति नहीं हो सकती।

गुण-बहुमान एवं कृतज्ञता आदि गुणों की किंमत समझने वाले तो, ऐसे सर्वश्रेष्ठ, उपकारी तथा महानतम गुणों से युक्त महापुरुषों की सेवा, पूजा, आदर, भक्ति, वन्दन, स्तुति आदि अधिक से अधिक हों—इस बात में विश्वास रखते हैं। इस सेवा पूजा से उन पूजनीय महापुरुषों को कोई लाभ न होते हुए भी उनमें ध्यान लगाने वाले आत्माओं को अपने पवित्र उद्देश्य के परिणामस्वरूप कर्म निर्जरादि उत्तम फल को प्राप्ति अवश्य होती है।

श्री जैन शासन में पूजा की फल प्राप्ति हेतु पूज्य की प्रसन्नता की अपेक्षा पूजक को शुभ भावना को ही आधारभूत माना गया है। पूज्य की भाव अवस्था का पूजन भी उपासक की गुण ग्राहकता तथा कृतज्ञतादि गुणों के आधार पर ही फल देने वाला होता है। ऐसी दशा में इन्हीं गुणों के शुभ अध्यवसाय से तथा आत्म शुद्धि को प्राप्त करने के शुभ संकल्प से प्रतिमा के माध्यम से पूज्य का वंदन, उपासन आदि हो तो वे कर्म निर्जरादि उत्तम फल को निश्चित रूप से देने वाला होता है।

स्थापना द्वारा आराधना करने वालों की सापेक्ष महत्ता :

'देव-गुरु आदि की आराधना से होने वाली कर्म निर्जरा आराध्य द्वारा प्रदत्त नहीं होती, किन्तु देव-गुरु आदि के आलम्बन के कारण आराधक को हुए शुभ परिणाम के अधीन है', यह बात हम ऊपर देख चुके हैं।

भाव अवस्था की आराधना भी यदि आराधक की शुभ भावना के आधार पर ही फलवती होती है तो फिर मूर्ति अथवा स्थापना द्वारा होने वाली आराधना में तो आराधक के शुभ अध्यवसाय रहते ही हैं। ऐसा कौन कह सकता है कि ये अध्यवसाय शुभ नहीं होकर मलिन हैं? भाव अवस्था की आराधना आराध्य के उपस्थिति काल में ही करने की होती है क्योंकि ऐसी स्थिति में आराध्य की उत्तमता तथा उपकारिता आदि को साक्षात् देखने से भक्ति की जागृति स्वाभाविक है।

जब आराध्य की स्थापना द्वारा भक्ति, आराध्य की अनुपस्थिति काल में करने की होती है तब आराध्य की श्रेष्ठता और भक्ति पात्रता, उपदेश, शास्त्र एवं परम्परा द्वारा हृदय में ठसी हुई होती है। भावावस्था की आराधना करने वालों की अपेक्षा स्थापना द्वारा आराधना करने वालों की भक्ति एवं पूज्यता की बुद्धि अधिक स्थिर बनी हुई है, ऐसा मानना चाहिये।

उपकारी की जीवितावस्था में उसके उपकारों के स्मरण की अपेक्षा उसकी अनुपस्थिति में उसके उपकारों का स्मरण करने वाला उपकारी के प्रति कम आदर वाला होता है, ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता परन्तु अधिक आदर करने वाला होता है, ऐसा कहा जाय तो भी गलत नहीं है। व्यक्ति की उपस्थिति की अपेक्षा उसकी अनुपस्थिति में उसको याद करने वाला उसका सच्चा अनुरागी कहा जाता है। इसी प्रकार पूज्य की विद्यमान दशा के बदले उसकी अविद्यमान दशा में उसकी भक्ति सच्चे एवं अंतरंग भाव वाले के अलावा अन्य किसी से नहीं हो सकती, ऐसा स्वीकार करना ही पड़ेगा।

'हृदय में भक्ति भाव के बिना भी दिखावे के कारण स्थापना की भक्ति करने वाले बहुत नजर आते हैं'—ऐसा तर्क करने वालों को समझना चाहिये कि यह स्थिति जिस प्रकार स्थापना के लिये है उसी प्रकार भाव अवस्था की भक्ति के लिये भी है। भाव अवस्था की भक्ति करने वाले सभी हृदय से व सच्चे भाव से ऐसा करते हैं—यह बात नहीं है। देखा देखी, लोभ, लालच, माया अथवा अन्य कुबुद्धि के वश होकर भी भक्ति करने वाले होते हैं। यही बात स्थापना के लिये भी संभव है परन्तु भावावस्था की भक्ति करने वालों की तरह कई ढोंगी और पाखंडी भी होते हैं—इससे सभी वैसे हो जाते हैं, ऐसा तो कोई भी नहीं कह सकता। इसी तरह स्थापना की भक्ति करने वालों में भी कई झूठे होते हैं, पर इससे सभी वैसे हो जाते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार आराध्य की अनुपस्थिति में उनके आदर से होने वाली फल प्राप्ति के लिये स्थिर एवं शुद्ध भक्ति की आवश्यकता है। भक्ति की यह स्थिरता और शुद्धता आराधक को अत्यंत शुभ फल देने वाली होती है, यह निर्विवाद है।'

देवभक्ति के लिये पृथक चैत्यालय अनिवार्य है :

स्थापना की भक्ति अपेक्षाकृत पूजक के अधिक आदर की सूचक है। यह बात सिद्ध होने के पश्चात् स्थापना की भक्ति आदि के लिये मंदिर आदि की कितनी अधिक आवश्यकता है, यह समझना और समझाना बहुत ही सुगम हो जाता है। कोई भी शुभ प्रवृत्ति उसके लिए अलग स्थान बिना स्थिर नहीं हो सकती हैं।

विद्याभ्यास या कला कौशल के अभ्यास के लिये विद्यालय, कॉलेज एवं युनिवर्सिटी आदि स्वतंत्र भवनों की आवश्यकता

सबसे पहले होती है। ठीक उसी भाँति देवभक्ति, गुरुभक्ति अथवा धर्मक्रिया आदि करने के लिये भी पृथक स्थानों के निर्माण बिना उनकी निर्विघ्न क्रियान्विति संभव नहीं है।

जो लोग स्कूल, कॉलेज, युनिवर्सिटी बोर्डिंग-हाऊस, ज्ञान-शाला, दानशाला, धर्मशाला, औषधालय एवं प्रसूतिगृह आदि के निमित्त स्वतंत्र भवन की हिमायत करते हैं वे ऐसा कभी नहीं कह सकते कि देवभक्ति के लिये स्वतंत्र मकान की जरूरत नहीं है। फिर भी वे यदि ऐसा कहने के लिये तैयार हो जाते हैं तों समझ लेना चाहिये कि ऐसे लोगों को अन्य पदार्थों के लिये जो लगन है इतनी भी देवभक्ति के लिये नहीं है। अन्य सभी कार्य जितने आवश्यक हैं उतनी ही देवभक्ति भी आवश्यक है अथवा अन्य सभी कार्यों की तुलना में देवभक्ति अधिक आवश्यक है, ऐसा मानने वाला वर्ग ऐसे मनोहर एवं रमणीय देवालयों की आवश्यकता को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता जहाँ अधिक सुगमता पूर्वक देवभक्ति हो सकती है।

देवभक्ति के लिये अलग से यदि विशाल और मनोहर चैत्य हों तब ही ऐसे क्षेत्रों में अच्छे साधुओं का आवागमन सुलभ एवं संभवित बनता है। अच्छे साधुओं को गृहस्थों के वैभव और समृद्धि से कोई प्रयोजन नहीं होता; अतः जैसे तैसे क्षेत्रों में उनका विहार नहीं होता। सुसाधु अधिकतर ऐसे क्षेत्रों में विहार करते हैं जहाँ जिनेश्वर देव की भक्ति के लिये अधिक संख्या में सुन्दर चैत्यालय आदि बने होते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे ही क्षेत्रों में अच्छे श्रावकों और धर्मार्थी आत्माओं का विशेष रूप से होना सम्भव है; साथ ही साथ इसी कारण वहाँ संयम की सुरक्षा, वृद्धि आदि भी आसानी से हो सकती है।

साधु समागम की सुलभता का यदि कोई प्रधान साधन है तो वह जिनेश्वर देव की भक्ति के लिये बने पर्याप्त सुन्दर मन्दिर ही हैं। इन मन्दिरों के अभाव में साधुओं का आगमन प्राय: असंभव-सा बन जाता है तथा साधु समागम बिना सुपात्र दान, श्री जिनवचन का श्रवण तथा संसार से छुटकारा पाने के लिये अत्यंत उपयोगी सम्यग्दर्शन, देशविरति तथा सर्व-विरति आदि गुणों के लाभ से हमें वंचित रहना पड़ता है। केवल इतना ही नहीं पर सहधर्मी के दर्शन भी दुर्लभ बन जाते हैं।

परिणाम यह होता है कि ऐसी स्थिति में साधर्मिक की भक्ति आदि सम्यक्त्व को निर्मल बनाने वाले आचरण का पालन भी अशक्य बन जाता है।

मन्दिरों से सर्वदा लाभ ही होता है :

श्री जैन शासन में साधुओं का किसी एक स्थान पर नित्य-वास निषिद्ध है क्योंकि श्रावकों के साथ उनका स्नेह बढ़ता है तथा ममत्व की प्रवृत्ति का पोषण होता है। परिणाम-स्वरूप धर्म भावना की वृद्धि के बदले हानि ही होती है। परंतु श्री वीतराग परमात्मा की पावन प्रतिमा से अधिष्ठित हुए मंदिर के संबंध में ऐसा कुछ नहीं बनता। इस स्थान पर सर्व साधारण समान भक्ति भाव से सदा-सर्वदा आ सकते हैं।

श्री जिन मन्दिर किसी भी वर्ग विशेष के पक्षपात अथवा अनुराग का कारण नहीं बनता; अत: वह हमेशा समान रूप से सभी की भावनाओं की अभिवृद्धि का स्थान बना रहता है। सर्वगुण सम्पन्न परमात्मा की अध्यक्षता वाले जिन मन्दिर के

विषय में इस बात का अनुभव प्रत्येक जिज्ञासु को प्रत्यक्ष सिद्ध है। जब किसी साधु का एक ही स्थान पर एक, दो या अधिक चातुर्मास हो जाते हैं तो ऐसे स्थान पर पक्षपात आदि के अनेक प्रसंग बन पड़ते हैं पर श्री जिनेश्वरदेव से अधिष्ठित मन्दिर सैंकड़ों अथवा हज़ारों वर्षों तक एक ही ढंग से धर्मवृत्तियों का पोषण करने वाले होते हैं तथा इसके आलंबन से सभी लोग समान धर्मीपन की भावना को दृढ़ बना सकते हैं।

श्री जैन शास्त्रों के कथनानुसार श्री तीर्थंकर देवों के विद्यमान काल में अर्थात् चौथे आरे में भी धर्मात्माओं की बस्ती वाले प्रत्येक गाँव में जिन मन्दिरों की अधिकता होती थी और ऐसे तारक मन्दिरों के आलम्बन से ही उस समय के लोगों को भी अनेक प्रकार के धार्मिक लाभ होते थे।

धन व्यय के लिये उत्तम स्थान :

धर्म भावना को बनाये रखने के लिये जिस प्रकार मंदिरों की जरूरत है उसी प्रकार लोभ और परिग्रह के पाप से उपार्जित द्रव्य के सद्व्यय के लिये भी जिन मन्दिरों की खास आवश्यकता है। धर्म के लिये धन अर्जित करने का जैन शासन में कोई विधान नहीं है परंतु पाप संज्ञाओं के कारण उपार्जित द्रव्य का सदुपयोग करने का तथा उत्ताम धर्म क्षेत्रों में दान देकर उत्ताम फल प्राप्त करने का तो जैन शासन में विधान अवश्य है।

परमात्मा के उपदेश अथवा शासन से धर्म को प्राप्त आत्मा संग्रह किये हुए अस्थिर एवं विनाशी द्रव्य का उपयोग, परमात्मा के मंदिर आदि के लिये न करे, तो वह रंक आत्मा सर्व समर्पण बुद्धि से, परमात्मा की आराधना के लिये कभी भी

कैसे तत्पर हो सकेगा ? परमात्मा की आराधना हेतु, परिग्रह की ममता कम करने के लिये अथवा गृहस्थावस्था में उदारता आदि सद्गुणों की सर्वोत्कृष्ट फल-प्राप्ति तथा श्री जिन भक्ति के लिये मंदिरों एवं मूर्तियों से बढ़कर सुंदर स्थान जगत् भर में अन्यत्र कहाँ मिल सकता है ?

परमात्मा के शासन का अपने ऊपर अतुल भावोपकार है– ऐसा समझने वाले पुण्यात्मा परमात्मपरायण बनने के लिये मन्दिर एवं मूर्ति पर होने वाले अधिक से अधिक धन व्यय को कम ही मानते हैं तथा इससे विपरीत दिशा में होने वाले धन व्यय को अनर्थकारी एवं सांसारिक बंधनों में जकड़ने वाले समझते हैं। प्रभु शासन को प्राप्त गृहस्थ तो ऐसा मानते हैं कि जिन भक्ति आदि में उपयोग में नहीं आने वाला द्रव्य प्रायः स्वयं की तथा स्वयं के वंशजों की परिग्रह भावना का पोषक होता है। केवल इतना ही नहीं पर वह तो उनको तथा उनकी संतति को विलासिता के मार्ग पर आगे बढ़ाकर उन्हें अधोगति में धकेलने वाला बनता है।

मन्दिरों आदि पर किये हुए धन-व्यय से होने वाले लाभ :

जहाँ मन्दिर और मूर्ति पर किया गया धन व्यय धार्मिक आत्माओं के अधिकार क्षेत्र में जाकर किसी समुदाय की सम्पत्ति बनता है वहाँ पुत्र, पौत्रों आदि को दी हुई सम्पत्ति अधिकांशतः ऐसे लोगों के स्वामित्व में चली जाती है जो धर्म परायण नहीं हैं तथा उस पर अधिकार भी ऐसे ही वर्ग का बन जाता है।

जहाँ मन्दिर एवं मूर्ति पर किया हुआ धनव्यय नष्ट नहीं होता पर वह रूपान्तरित हो जाता है, जबकि भोगों के उपभोग में, ऐश आराम में तथा मौज शौक के साधनो पर खर्च किया हुआ धन क्षणिक फल देकर पूर्ण रूप से नाश होता है तथा भोक्ता के लिये अनर्थ एवं उन्माद वृद्धि का कारण बनता है और उस मार्ग में व्यय किया हुआ एक पैसा भी परमात्मा अथवा उसके पवित्र शासन की आराधना के मार्ग में उपयोगी नहीं बन सकता।

अविनाशी और अपार सुख से भरपूर मोक्ष एवं इसकी प्राप्ति के पथ प्रदर्शक तथा आत्म-तत्त्व और अनात्म-तत्त्व का भेद समझा कर आत्म-तत्त्व के उपासक बनाने वाले परमात्मा के मनोहर मंदिरों में एवं इन तारकों की सुन्दर प्रतिमाओं में सर्वस्व अर्पित कर देने की भावना कृतज्ञ आत्माओं में न हो, ऐसा कैसे हो सकता है ? ऐसी बुद्धि कृत्रिम या निरर्थक नहीं होती परन्तु स्वाभाविक एवं सार्थक होती है।

धर्म दृष्टि से यह धन-व्यय आत्मा को परमेश्वर परायण बनाता है, व्यवहार दृष्टि से मूर्ति और मन्दिर के रूप में जगत् में कायम रहता है तथा दीर्घ-काल तक अनेकों का उपकार करता हुआ बना रहता है। जीवन में प्राप्त पदार्थों का श्रेष्ठतम उपयोग कराने वाला यदि कोई भी मार्ग है तो वह इस प्रकार श्री जिन मन्दिर और श्री जिनमूर्ति आदि की भक्ति में होने वाला धनव्यय ही है। धन के सद्व्यय का इससे श्रेष्ठ मार्ग अन्य नहीं हो सकता; क्योंकि दूसरा कोई भी मार्ग इस प्रकार कल्याणकारी हो ऐसा सम्भव नहीं है।

इस राह से भिन्न राह पर किया गया धनव्यय सम्यग्दृष्टि आत्माओं के मन को कृत्रिम एवं निरर्थक लगता है तथा उनकी

अन्तरात्मा पुकार उठती है कि ऐसा अर्थ (धन) पुण्य का नहीं परन्तु पाप का कारण है।

श्री जिन पूजा और हिंसा :

'श्री जिनेश्वर देव की भक्ति के लिये मूर्ति एवं मंदिरों पर होने वाला धनव्यय निरर्थक नहीं अपितु सार्थक है' इतना स्वीकार करने के उपरांत भी कई लोगों के मन में एक शंका काँटे की तरह चुभती है और वह यह है कि—

"श्री जिन पूजा में पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के जीवों का विनाश होता है तो ऐसी पूजा किस प्रकार उपादेय बन सकती है? अहिंसक शासन में हिंसक ढंग पर धर्म होता है, ऐसा प्रतिपादन करना क्या असंगत नहीं है?

ऐसी शंका का जन्म जैनी अहिंसा के वास्तविक ज्ञान के अभाव में होता है। 'जिसमें जीव हत्या होती है वह सारी क्रिया ही हिंसक है' अथवा जीव का वध होना, इसी का नाम हिंसा है, ऐसा जैन शास्त्र ने कभी नहीं कहा। जैन शास्त्रानुसार— 'विषय-कषायादि की प्रवृत्ति करते अन्य जीवों को प्राण हानि इसी का नाम हिंसा है।' विषय-कषायादि की प्रवृत्ति बिना होने वाला प्राण-व्यपरोपण आदि भी यदि हिंसा मानने में आवे तो दान आदि एक भी धर्म प्रवृत्ति नहीं हो सकती : कारण इनमें प्रत्येक में जीववध तो समाया हुआ ही है।

यदि जिन पूजा के कार्य में जीव वध है तो गुरुभक्ति, शास्त्र श्रवण, प्रतिक्रमण आदि कार्यों में क्या जीव वध नहीं है? अवश्य है; परन्तु इसमें उद्देश्य जीव वध का नहीं पर गुरु भक्ति

आदि का है; अतः ऐसी दशा में इसे हिंसा का कार्य नहीं कहा जा सकता। इसी भाँति जिन पूजा में भी उद्देश्य जिन-भक्ति का है अतः इसे हिंसक कार्य कैसे कहा जाय? केवल जीववध को ही यदि हिंसा का नाम दे दिया जाय तो नदी पार करने वाले तथा गाँव गाँव विहार करने वाले साधु को भी हिंसक ही कहा जायेगा। साथ ही लोभ आदि कष्टों को सहने वाले तथा उग्र तपस्या द्वारा शरीर को सुखाने वाले एवं महाव्रतों के संरक्षण हेतु अवसर आने पर अपने प्राणों की बलि देने वाले भी हिंसा का कार्य करने वाले हैं, ऐसा कहना पड़ेगा।

इसके जवाब में यदि ऐसा कहा जाय कि इन सब कार्यों के लिये भगवान् की अनुमति है—तो इसके साथ ही प्रश्न करना पड़ेगा कि 'क्या हिंसा के कार्यों के लिये भगवान् कभी आज्ञा देते हैं? क्या ऐसा हो सकता है कि भगवान् को हिंसा करने की तो नहीं पर करवाने की छूट है? पर नहीं, भगवान् भी त्रिकरण योग से हिंसा के परिहारी होते हैं। यदि इन कार्यों में हिंसा ही होती तो भगवान् कभी भी ऐसी आज्ञा नहीं देते: परन्तु नदी पार करना आदि कार्य संयम रक्षा के लिये हैं, पुद्गल के हेतुसर नहीं इसलिये उन प्रवृत्तियों को हिंसक नहीं पर अहिंसक माना गया है।

साधु द्रव्य पूजा क्यों नहीं करते?

यहाँ ऐसा तर्क होना भी स्वाभाविक है—

"श्री जिन पूजा भक्तिस्वरूप होने से उसमें होने वाली विराधना यदि हिंसा नहीं है तो पंचमहाव्रतधारी साधु पूजा क्यों नहीं करते?"

इसका उत्तर यह है कि साधुओं के द्रव्य पूजा नहीं करने का कारण यह नहीं है कि यह हिंसा कार्य है परन्तु यह है कि वे द्रव्य के त्यागी होते हैं। अधिकार विशेष से ही क्रिया विशेष होती है। द्रव्यपूजा के अधिकारी द्रव्य को धारण करने वाले होते हैं वहां साधुओं को स्नान नहीं करने की प्रतिज्ञा होती है जो द्रव्य पूजा के लिये आवश्यक है। इसलिये साधुओं के लिये यह कार्य उनकी प्रतिज्ञा के भी विरुद्ध हैं।

गृहस्थ स्नान करने वाले होते हैं तथा द्रव्य के संगी भी। इसलिये भक्ति के निमित्त द्रव्य पूजा उनके लिये आवश्यक है और उसमें प्रमत्त योग नहीं होने से अनिवार्य रूप से होने वाला प्राणव्यपरोपण हिंसा का रूप नहीं है। औषधि रोगी के लिये लाभदायक है अतः स्वस्थ वैद्य को भी इसका सेवन करना चाहिये, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता। द्रव्य पूजन आरम्भ एवं परिग्रह के रोग से पीड़ित आत्माओं को उस रोग से छुटकारा दिलाने के लिऐ अर्थात् आरम्भ और परिग्रह के विचार एवं आचरण से दूर रखने के लिये विहित किया हुआ है।

साधु आरम्भ और परिग्रह के रोग से मुक्त हैं अतः उनको द्रव्य पूजन रूपी औषधि लेने की आवश्यकता नहीं है।

श्री जिन पूजा के साथ सर्व विरति के ध्येय की सुसंगतता :

यहाँ पर एक दूसरा ऐसा तर्क भी उठने की संभावना है कि—

"पृथ्वी कायादि के आरंभमय द्रव्य पूजन से निरारंभमय सर्व विरति के ध्येय की सिद्धि किस प्रकार होती है?"

इसका सीधा और सरल उत्तर यह है कि ऐसा एक नियम है कि जिन गुणों की ओर जिस मनुष्य की अत्यंत श्रद्धा होती है वह उन गुणों को प्राप्त करने के अध्यवसाय वाला होता ही है और उसे वह शुभ अध्यवसाय ही समय पर अनंत निर्जरा करवाने वाला बनता है। ऐसी निर्जरा से आत्मा निर्मल बनकर स्वयं के क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक गुणों को प्राप्त करता है।

गुण प्राप्ति होने से गुणवान के वचनों के प्रति श्रद्धा बढ़ती है। इस श्रद्धा की तीव्रता में ज्यों ज्यों वृद्धि होती है त्यों त्यों गुणवान के वचनानुसार आचरण करने की आत्मा में तत्परता जागती है तथा आचरण की इस तत्परता में से बाहरी व भीतरी सभी संयोगों का भोग देनें की तैयारी उत्पन्न होती है। इसी का नाम सर्वविरति है। इस प्रकार परम्परा से प्रभु मूर्ति का पूजन सर्वविरति के ध्येय को पहुँचने का साधन बन सकता है। इतना अवश्य है कि श्री जिनेश्वर भगवान् की प्रतिमा को पूजने वाले सभी लोग उसी भव में सर्वविरति के ध्येय को पहुँच जायें, ऐसा नहीं होता है।

सर्वविरति अंगीकार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इसी भव में मोक्ष प्राप्ति नहीं होती तो भी सर्वविरति की आराधना निष्फल नहीं मानी जाती। इस प्रकार कई भवों तक विराधना का वर्जन तथा आराधना का संपादन होने के पश्चात ही सर्वविरति भवांतर में मोक्ष प्रदान करती है। इसी प्रकार अविधि से बचता हुआ विधि को साधता हुआ द्रव्य पूजा करने वाला भवांतर में सुगमता से सर्वविरति तक पहुँच सकता है। कारण कि श्री जिनेश्वर भगवान् की पूजा करने वाला इनके राज

वैभव अथवा सुख समृद्धि को सम्मुख रखकर उनको नहीं पूजता परन्तु वह तो आरम्भ-परिग्रह और विषय-कषाय के पूर्ण त्याग से सेवित अनगारपन की तथा प्राप्त की हुई अठारह दोष रहितपन की पूजा करता है। इस प्रकार भगवान् का पूजन सर्वविरति आदि गुणों की ओर अत्यन्त श्रद्धा धारण करके होता है अतः वह सर्वविरति को दिलाने वाला होता है।

'प्रभु पूजा के अर्थी थे'—ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता :

ऐसा तर्क सम्भव है कि—

"श्री जिनेश्वर देव हिंसा का त्याग करने के लिये साधुओं को संसार-त्याग का उपदेश दें, तीव्र कष्टों को सहन करने का कहें तथा अन्त में प्राण त्याग तक की बात कहें पर अपनी स्वयं की पूजा के लिये हिंसा आदि हो तो भी इसका निर्जरादि फल बतावें, तो क्या यह उचित है ?"

इसका जवाब यह है कि दूसरे मतों की अपेक्षा जैन मत में श्री जिनेश्वर ऐसी कोई एक आत्मा नहीं है। ऐसी आत्माएँ अनन्त हो गई हैं और अनन्त होने वाली हैं। इन सब आत्माओं की पूजनीयता का निरूपण करना तथा उसमें व्यक्तिगत पूजा के हेतु की कल्पना करना, यह सर्वथा विरुद्ध है। समुदाय की भक्ति के निरूपण में व्यक्तिगत पूजा के प्रवर्तकपने की कल्पना करना, यह भयंकर दोष दृष्टि है।

कोई सज्जन दुर्जन की संगति से होने वाली हानि तथा सज्जन की संगति से होने वाले लाभ बतावे तो ऐसा नहीं कहा

जा सकता कि ऐसा कहकर वह अपनी महत्ता बताने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सुपात्र-दान का उपदेश देनें वाला साधु स्वार्थी है।

कोई साधु उपदेश देते समय यह कहे कि 'साधु महात्मा के नाम-गोत्र के श्रवण मात्र से बहुत लाभ होता है और उनके सम्मुख जाकर वंदन-नमन करने, सुखशाता पूछने तथा उनकी अनेक प्रकार से पर्युपासना करने में तो अनहद लाभ हैं"। यह उपदेश किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य कर नहीं दिया गया है अतः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उपदेशक अपनी स्वयं की पूजा का अभिलाषी है। साथ ही हम यह भी नहीं कह सकते कि साधु के सम्मुख जाने आदि में होने वाली जीव विराधना के पाप का भागी वह उपदेशक बनता है।

उपदेशक का इरादा तो श्रोता के आत्मकल्याण का है न कि जीव विनाश का। श्री जिनेश्वर देव तो क्षीण मोही एवं वीतराग हैं। उन पर स्वयं की पूजा की अभिलाषा का आरोप लगाना पूर्णतया अज्ञानता का कार्य है।

पूजा में हिंसा की बातें करने वाले की दशा :

सर्वविरति चौदह राजलोक के सर्व जीवों को अभयदान देने स्वरूप है। इसकी प्राप्ति हेतु एकेन्द्रिय जीवों की स्वरूप हिंसा वाला पूजन न्याययुक्त तथा अधिक लाभदायी हैं। इस पूजन द्वारा एकेन्द्रिय से बढ़कर द्विइन्द्रिय आदि का वर्ग रक्षणीय है और परम्परा से एकेन्द्रिय वर्ग भी रक्ष्य है। पशुवध की पूजा में ऐसा नहीं है, कारण कि पंचेन्द्रिय से बढ़कर किसी जीव का वर्ग है ही नहीं और अपने भले के नाम पर होने वाला

पंचेन्द्रिय के वध वाला कार्य धर्मकार्य माना भी नहीं जा सकता क्योंकि यह मानवता के भी विरुद्ध है।

अहिंसा से चारित्रावरणीय कर्म जैसे नाश होते हैं वैसे ही सर्वविरति के ध्येय से होने वाला पूजन भी चारित्रमोहनियादि दुष्ट कर्म की प्रकृतियों का नाश करता है। दोनों से एक ही कार्य की सिद्धि होने से अहिंसा तथा श्री जिनपूजन उत्सर्ग-अपवाद रूप बन सकते हैं परंतु स्वर्गादि समृद्धि के लिये पंचेन्द्रिय जीव का वध करके पूजन करने में हिंसा और परिग्रह दोनों पापों का पोषण होता है और इससे उत्सर्ग अपवादरूप नहीं बन सकता। प्राप्त किये हुए संयम को बनाये रखने के लिये नदी उतरने में लाभ होता है तो अप्राप्त संयम की प्राप्ति के लिये देवपूजादि में प्रवृत्त होने वाले को लाभ क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा ही।

श्री जिनेश्वरदेव की पूजा के पीछे गुणप्राप्ति, वैराग्य, मार्गानुसारिता, दुःखक्षय और कर्मक्षय आदि आत्मकल्याण-कर वस्तुओं का ही ध्येय है। ऐसे उत्तम ध्येय से पूजन करने वाला यदि हिंसा के फल को प्राप्त होता है तो फिर अहिंसा के फल को कौन प्राप्त कर सकता है ? इसकी खोज करना असंभव है। श्रावक यदि द्रव्यपूजन करता है तो अपने व्रत-नियमों का भंग करके तो नहीं करता।

श्री जिनेश्वर देव की पूजा में पशु आदि का अथवा अभक्ष्य पदार्थों का नैवेद्य नहीं रखा जाता और न अपेय वस्तुओं से प्रक्षालन करना होता है। बड़ा झूठ अथवा बड़ी चोरियां करके भी पूजन करने का नहीं होता। कम से कम देशविरति धर्म की भूमिका से नीचे गिराने वाला एक भी कार्य श्री जिनपूजा में करने का नहीं होता।

सचित्त पानी, वायुवींझन, अग्निसमारम्भ, वनस्पति-भक्षण, कच्ची मिट्टी और कच्चा नमक जिसने छोड़ दिया हो उसको पूजन के विधान में प्रवृत्त नहीं होने का है। इस पर भी जो धन कमाने अथवा शरीर शुश्रूषादि के लिये लेशमात्र दया के विचार से रहित है, अभक्ष्य एवं अनंतकाय तक के पदार्थों का सेवन जिसने नहीं छोड़ा ऐसे लोग केवल जिन पूजा के लिये काम में लाये जाने वाले जल, पुष्प आदि की विराधना को ही जो बड़ा रूप दे देने में प्रयत्नशील हों तो समझना चाहिये कि वे मिथ्यात्व से ग्रस्त एवं भयंकर दुराग्रह से पीड़ित हैं।

पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि और प्रत्येक वनस्पति : द्विइन्द्रिय, तेइन्द्रिय तथा चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य, देवता और नरक वगैरह स्थानों में रहने वाले जितने भी जीव हैं इनसे भी अनंतगुणे जीव सुई के अग्रभाग जितने अनंतकाय में हैं। इनका उपभोग करने में भी जिनको संकोच नहीं ऐसे लोग पृथ्वी आदि के अनंत भाग के जीवों से होने वाली स्वरूप हिंसा की बात को आगे कर श्री जिन पूजा जैसे परमोच्च कर्तव्य को धिक्कारते हैं, यह बात ही बताती है कि उनकी दशा अत्यंत शोचनीय तथा विवेकहीनता की पराकाष्ठा को पहुंची हुई है। किसी सती को अपने पति के साथ बात करते देखकर यदि कोई वेश्या उसकी हँसी करे अथवा तिरस्कार करे तो उसका यह कार्य जितना नासमझी का है उतना ही अथवा इससे भी बढ़कर नासमझी का कार्य उन लोगों का है।

द्रव्य और भाव दया :

श्री जिनेश्वर देव के मनोहर मन्दिर, उनमें प्रतिष्ठित रमणीय प्रतिमाएँ तथा उनका आनन्ददायक पजन आदि

देखकर लघुकर्मी भव्यात्माएँ सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणों को प्राप्त करने वाली बनती हैं तथा परंपरा से देशविरति, सर्व-विरति आदि उच्च कक्षाओं को प्राप्त कर, सर्व-कर्म-रहित बनकर अनंतकाल तक सभी लोकों के सभी जीवों को सभी प्रकार से अभयदान देने वाली बनती हैं। इसीलिये सम्यग्-दर्शनादि भाव धर्मों की प्राप्ति के साधनों को श्री जैनशासन ने परम उपकारक गिना है।

जगत् में दया दो प्रकार की है : एक द्रव्यदया व दूसरी भावदया। द्रव्यदया की अपेक्षा भावदया अनंतगुनी श्रेष्ठ है। द्रव्यदया केवल द्रव्य-प्राणों के उद्देश्य से है तो भावदया भाव प्राणों के उद्देश्य से है। द्रव्य-प्राणों का जीवन अल्पकाल का होता है; भाव-प्राण अनन्त काल तक रहते हैं। द्रव्य-प्राणों के धारण-पोषण से होने वाला सुख थोड़ा और क्षणस्थायी होता है तो भाव-प्राणों के आविर्भाव से होने वाला सुख निर-वधि एवं चिरस्थायी है।

द्रव्यदया करने वाला केवल कुछ लोगों के कुछ दुःखों को कुछ समय के लिये दूर कर सकता है जबकि भावदया करने वाला सभी जीवों के सर्वकाल के दुःखों को दूर करने वाला अर्थात् उनको सदा के लिये दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला होता है। सम्यग्दर्शनादि भाव गुणों की प्राप्ति के उपरांत मोक्ष प्राप्ति के अन्य साधन भी जैसे-सत्साधु समागम, इनके मुख से जगत् के तारक अकलंक श्री जिन वचन का श्रवण, सर्व विरतिमय शुद्ध जीवन का आचरण और परंपरागत अव्याबाध शाश्वत् पद की प्राप्ति आदि श्री जिनेश्वरदेव की पूजा और भक्ति आदि से अवश्य प्राप्त होते हैं।

श्री जिन पूजा में दानादि धर्मों की आराधना :

श्री जिनेश्वरदेव की पूजा के समय पुण्यबंध रूप एवं कर्म-क्षय रूप दोनों प्रकार के धर्मों की एक साथ आराधना होती है जो नीचे की विगतों से समझ में आ सकेगा :—

श्री जिन पूजन के समय अक्षतादि चढ़ाना-यह दान धर्म है।

श्री जिन पूजन के समय विषय विकार को त्यागना-यह शील धर्म है।

श्री जिन पूजन के समय अशनपानादि का त्याग-यह तप धर्म है।

पूजन के समय श्री जिनेश्वरदेव के गुणगान आदि करना—यह भाव धर्म है।

श्री जिन पूजा से होने वाला कर्मक्षय :

इसी प्रकार पूजन के समय—

चैत्यवन्दनादि द्वारा गुणस्तुति आदि करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

प्रभुमूर्ति के दर्शनादि करने से दर्शनावरणीय कर्म का नाश होता है।

यतना और जीवदया की शुभ भावना से असातादि वेदनीय कर्म का क्षय होता है।

श्री अरिहंत परमात्मा तथा श्री सिद्ध परमात्मा के गुणों के स्मरण से क्रमानुसार दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय होता है।

प्रभु पूजन के शुभ अध्यवसाय की तीव्रता से आयुष्यकर्म का क्षय होता है ।

श्री जिनेश्वरदेव के नामादि लेने से नाम कर्म का क्षय होता है ।

श्री जिनेश्वरदेव का वंदन-पूजन आदि करने से नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है तथा श्री जिनेश्वरदेव की पूजा में शक्ति, समय तथा अन्य द्रव्य का सदुपयोग करने से वीर्यांतरायादि कर्म का क्षय होता है ।

इस प्रकार जिन पूजा में पुण्यबंध, देश से या सर्व से कर्म निर्जरा तथा परम्परा से शाश्वत् सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति तक के सभी कार्य एक साथ सिद्ध होते हैं । श्री जिन पूजा जैसा आसान से आसान, बालक से लेकर वृद्ध तक सभी जिसे कर सकते हैं ऐसा तथा अनुपम लाभकारी अन्य कोई कार्य लोक-परलोक के मार्ग में दिखाई देना सम्भव नहीं है । उसके प्रति तनिक भी वक्र दृष्टि धारण करना अपने स्वयं के कल्याण के प्रति वक्र दृष्टि धारण करने के समान है । अपने तथा औरों के कल्याण के अभिलाषी लोगों को श्री जिन पूजादि अनुष्ठान में स्वयं सम्मिलित होकर अन्य को सम्मिलित करना तथा अपने-पराये का पारमार्थिक कल्याण साधना, यही सच्ची उन्नति का उत्तम मार्ग है ।

प्रतिमा - पूजन

प्रतिमा - पूजन की प्राचीनता

अनादिकालीन आकार :

समस्त विश्व मूर्तिमान पदार्थों का समूह रूप है। जितना प्राचीन विश्व है उतनी ही प्राचीन मूर्ति, आकार तथा उनकी पूजा आदि है। जैन सिद्धान्त के अनुसार समस्त लोक षड्द्रव्यों से भरा हुआ है। इन छः द्रव्यों में पाँच अमूर्त हैं व एक मूर्त। इन अमूर्त द्रव्यों का भी कोई आकार विशेष माना गया है। यावत् आलोकाकाश अथवा जहाँ केवल एक आकाश द्रव्य ही है उसको भी गोले जैसे आकार वाला माना गया है।

जैसे अमूर्त द्रव्यों का आकार माना है वैसे ही अमूर्त द्रव्यों के ज्ञान को भी आकारयुक्त माना गया है। अमूर्त द्रव्यों की जानकारी भी मूर्त द्रव्यों द्वारा ही होती है। इस प्रकार आकार एवम् मूर्ति को मानने का इतिहास किसी काल विशेष का नहीं पर विश्व के अस्तित्व तक के सर्वकाल के लिये सर्जित है।

मूर्ति का विश्वव्यापक सिद्धान्त :

मूर्ति, आकृति, प्रतिमा, प्रतिबिंब, आकार, प्लान, नक्शा, चित्र, फोटो—ये सभी एक ही अर्थ के सूचक शब्द हैं। किसी न किसी प्रकार से इन आकारों को आदर दिये बिना किसी का काम नहीं चलता। एक बालक से लगाकर बड़े ज्ञानी तक

सभी को अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये सर्व प्रथम मूर्ति की ही आवश्यकता होती है। धार्मिक, व्यवहारिक अथवा वैज्ञानिक, किसी भी क्षेत्र में मूर्ति के आकार को माने बिना नहीं चलता। मूर्ति एवं आकार को मानने का सिद्धान्त विश्व व्यापक है।

सुवर्ण और उसमें रहने वाले पीलेपन को तथा रत्न और उसमें बसी हुई कांति को जिस प्रकार कभी अलग नहीं किया जा सकता वैसे ही विश्व से उसके आकार की मूर्ति को भी पृथक नहीं किया जा सकता। समस्त विश्व की प्रकृति ही इस तरह मूर्ति एवं आकार को धारण करने वाली है। ऐसी दशा में मूर्ति को नहीं मानना एक प्रकार से विश्व की प्रकृति का ही खून करने के बराबर है।

मूर्ति पूजा की परम आवश्यकता :

मुमुक्षुमात्र का अंतिम ध्येय जन्म, जरा और मरण आदि दुःखों का अन्त कर अक्षय सुख को प्राप्त करना है। इस महान् कार्य की सिद्धि के लिये सर्व प्रथम आवश्यकता श्रेष्ठ साधनों को प्राप्त करने की है। चंचल चित्त, उच्छृंखल इंद्रियां, विषम विषयों एवं कटु कषायों पर विजय प्राप्त हो सके, ऐसा उत्तम साधन शुक्ल ध्यानावस्थित और शांत मुद्रायुक्त श्री जिनेश्वर प्रभु की मनोहर प्रतिमा से बढ़कर दूसरा कोई भी नहीं है भले ही वह मूर्ति फिर पत्थर, लकड़ी, धातु, मिट्टी, रेती या किसी भी पदार्थ की बनी हो।

ईश्वर की उपासना यदि धर्म का एक मुख्य अंग है तो उसकी सिद्धि के लिये मूर्ति की आवश्यकता से कोई भी इन्कार

नहीं कर सकता। किसी भी निराकार वस्तु की उपासना मूर्ति के अभाव में असम्भव है, इसको सभी धर्मावलम्बी मानते हैं। अतः ईश्वर के प्रति श्रद्धा, भक्ति तथा उसके अस्तित्व का विश्वास बनाये रखने के लिये मूर्ति पूजा की परम आवश्यकता है।

गुण पूजा के लिये भी आकार जरूरी है :

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे यह सम्भव है कि—

"ईश्वर की उपासना हेतु जड़ मूर्ति का आलंबन लेने की अपेक्षा उनके स्वयं के गुणों का आलंबन लेना क्या बुरा है?"

परन्तु यह प्रश्न कम समझ का है। ईश्वर जिस प्रकार निराकार है उसी प्रकार ईश्वर के गुण भी निराकार हैं। ईश्वर तथा उसके गुणों का जब कोई आकार नहीं तो अल्प बुद्धि जीव उसकी उपासना किस प्रकार कर सकते हैं? अल्पज्ञ जीवों को उपासना में लीन करने के लिये साकार, इंद्रियगोचर तथा दृश्य पदार्थों की आवश्यकता रहेगी ही।

फिर किसी का ऐसा भी कहना संभव है कि—

हम ईश्वर अथवा ईश्वर के निराकार गुणों की अपने मनमंदिर में मानसिक कल्पना द्वारा उपसना कर लेंगे। ऐसी स्थिति में पाषाणीय मंदिर-मूर्ति की क्या आवश्यकता है? पर ऐसा कहना भी अज्ञानता है। मनोमंदिर में निराकार ईश्वर की कल्पना भी साकार ही बनने वाली है जैसे कि अष्ट महा-प्रतिहार्य से विभूषित, केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय से युक्त, समवसरण में बिराजमान भगवान् जिनेश्वर महाराज की धर्म देशना समय की अवस्था। इस अवस्था की कल्पना निराकार नहीं पर साकार है।

मंदिर और मूर्ति के मानने वाले भी इस कल्पना को ही मूर्त स्वरूप प्रदान करके उपासना करते हैं। कल्पना करके अथवा साक्षात् मूर्ति बनाकर उपासना करना, दोनों का ध्येय एक ही है। इतना अंतर अवश्य है कि काल्पनिक मनोमंदिर क्षणस्थायी है जब कि साक्षात् मंदिर तथा मूर्ति चिरस्थायी है। सर्वश्रेष्ठ तो यह है कि चिरस्थायी दृश्य मंदिरों में जाकर भगवान् की शांत मुद्रायुक्त मूर्ति की भक्तिभाव पूर्वक पूजा-अर्चना करके आत्मकल्याण करना, पर क्षण विध्वंसी काल्पनिक और अदृश्य मूर्ति मात्र से संतोष नहीं मान लेना क्योंकि ऐसे संतोष में स्पष्ट रूप से भक्ति की कमी रहती है।

मूर्ति का शुभावह आलंबन :

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जितनी प्राचीनता संसार के इतिहास की है उतनी ही प्राचीनता मूर्ति पूजा की है। इसीलिये विश्व के इतिहास के साथ ही संसारी जीवों के कल्याणार्थ परम आवश्यक मूर्ति पूजा का इतिहास भी प्राप्त होता है। जीवों के कल्याण और मूर्ति पूजा, दोनों का परस्पर घनिष्ट संबंध है। परम पुरुषों की मूर्तियों के शुभावह आलंबन से संसारी आत्माओं की पापवासना मंद पड़ती है, विषय-कषाय का वेग घटता है, आरंभ-परिग्रह के त्याग की भावना का जन्म होता है, सन्मार्ग की ओर अग्रसरता स्थायी बनती है और सदा उच्च गुणों का आदर्श मिलता रहता है।

मूर्ति पूजा का विरोध उत्पन्न होने का कारण :

मूर्ति पूजा प्राचीन तथा कल्याणकारी होने पर भी उसका विरोध कब से, किसके द्वारा और किस कारण से हुआ, इसका

इतिहास भी जानना आवश्यक है। विश्वस्त तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि विक्रम की ७ वीं शताब्दी पूर्व समस्त संसार मूर्ति पूजा का उपासक था। सर्वप्रथम लगभग १३०० से १४०० वर्ष पूर्व मूर्ति पूजा के विरुद्ध आवाज पैगम्बर महम्मद ने अरबिस्तान में उठाई थी क्योंकि उस देश में मूर्ति पूजा के नाम पर अत्याचार बहुत बढ़ गये थे। सिर के बाल बढ़ जाने से सिर को ही काट डालने की क्रिया जितनी अव्यवहारिक है उतना ही अव्यवहारिक था अत्याचार का विरोध करने के बजाय मूर्ति पूजा का विरोध करना। पैगम्बर महम्मद ने यह विरोध किसी भी प्रमाण के आधार पर नहीं पर तलवार के बल पर किया।

केवल आर्य प्रजा में ही नहीं पर पाश्चात्य देशों में भी मूर्ति पूजा का बहुत प्रचार था, ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। आस्ट्रेलिया में भगवान् महावीर की मूर्ति, अमेरिका में ताम्रमय सिद्धचक्र का गट्टा, मंगोलिया में अनेक भग्न मूर्तियों के अवशेष तथा मक्का मदीना में जैन मंदिर (जो हाल ही में वहाँ से बदल दिया गया है) आदि मूर्ति पूजा के प्रमाण हैं।

व्यक्तिगत रूप से कोई मूर्ति पूजा को नहीं माने, यह अलग बात है परंतु देशाटन करने वालों की जानकारी से यह बात छिपी हुई नहीं है कि आज भी जगत् में ऐसा प्रदेश खोजने पर भी नहीं मिल सकता कि जहाँ मूर्ति पूजा का प्रचार न हो।

मुस्लिम मत की उत्पत्ति के बाद मुसलमानों ने भारतवर्ष पर कई आक्रमण किये और धर्मांधता के कारण इस देश के आदर्श मंदिर-मूर्तियों को तथा शिल्प-कलाओं को नष्ट-भ्रष्ट किया।

फिर भी १५ वीं शताब्दी तक आर्य प्रजा पर मुस्लिम संस्कृति का थोड़ा भी प्रभाव नहीं पड़ा।

विक्रम की १३ वीं शताब्दी में दिल्ली पर मुस्लिम सत्ता का शासन हुआ। सत्ता के मद में आकर वे अनेक मंदिर एवं अज्ञान लोगों को हिन्दू धर्म से भ्रष्ट करने लगे फिर भी उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली। थोड़े वहुत जो विधर्मी बनें वे भी अधिकांश स्वार्थी और धर्म से अनभिज्ञ लोग थे। ऐसी विकट स्थिति में भी भारतीय धर्मवीरों पर अनार्य संस्कृति का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा।

विक्रम की १४ वीं सदी में दिल्ली, मालवा और गुजरात की भूमि पर मुस्लिमों की सत्ता का आधिपत्य हुआ और उन्होंने वहाँ की शिल्पकला और मंदिरों का नाश किया, विधर्मी नहीं बनने वालों की सम्पत्ति को लटा तथा उन्हें प्राण-दण्ड दिया। तव तक भी धर्मवीरों पर अनार्य संस्कृति का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा पर इसके विपरीत प्रतिस्पर्धा के कारण धर्म एवं मूर्ति पूजा पर का विश्वास और भक्तिभाव वढ़ता ही गया।

शिलालेखों पर से यह ज्ञात होता है कि ऐसी विकट परिस्थिति के समय में भी पुराने मंदिरों के नाश की अपेक्षा नये मेंदिर अधिक संख्या में बने। उदाहरण स्वरूप वि. सं. १३६९ में मुसलमानों ने शत्रुंजय के सभी मंदिरों का नाश किया और १३७१ में श्रेष्ठी समरसिंह ने करोड़ों का द्रव्य खर्च करके पुनः शत्रुंजय पर स्वर्गविमान समान मंदिरों का निर्माण करवा लिया।

विक्रम की १६ वीं सदी भारतवर्ष के लिये महादुःख एवं भयंकर कलंक रूप साबित हुई। अनार्य संस्कृति का दोषपूर्ण

प्रभाव अनेक व्यक्तियों पर पड़ चुका था तथा अनेक अज्ञान व्यक्तियों ने अनार्य संस्कृति का अंध अनुकरण कर बिना कुछ सोचे समझे आर्य मंदिर एवं मूर्तियों की ओर क्रूर दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया था।

श्वेताम्बर जैनों में लोंकाशा, दिगम्बर जैनों में तारणस्वामी, सिक्खों में गुरु नानक, जुलाहों में कबीर, वैष्णवों में रामचरण तथा अंग्रेजों में मार्टिन लूथर आदि लोगों ने बिना सोचे समझे संस्कृति के आधार स्तंभ रूप मंदिर और मूर्तियों के विरुद्ध आवाज उठाना शुरू कर दिया था। 'ईश्वर की उपासना के लिये इन जड़ पदार्थों की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहकर मूर्तियों द्वारा अपने इष्ट देवों की उपासना करने वालों को उन्होंने आत्मकल्याण के मार्ग से हटा दिया था।

श्वेताम्बर जैनों का लोंकाशा के साथ संबन्ध है। लोंकाशा के जीवन के विषय में भिन्न भिन्न लेखकों के अलग अलग उल्लेख मिलते हैं परन्तु लोंकाशा का जैन साधु के द्वारा अपमान हुआ, इस विषय में सभी एकमत हैं। एक ओर उसका अपमान तथा दूसरी ओर मुसलमानों का सहयोग लोंकाशा को कर्तव्यच्युत करने वाला सिद्ध हुआ।

वि. सं. १५४४ के आसपास हुए उपाध्याय श्री कमलसंयमी सिद्धान्त चौपाई में लिखते हैं कि फिरोजखान नामका बादशाह मन्दिरों और पौषधशालाओं को ध्वंस कर जिनमत को कष्ट पहुँचाता था। दुषम काल के प्रभाव से बुखार के साथ सिरदर्द की तरह, लोंकाशा को उसका सहयोग मिल गया।

आवेश में अंधा इन्सान क्या क्या कुकर्म नहीं करता ? इस विषय में जमालि और गोशाला के दृष्टांत प्रसिद्ध हैं। क्रोधावेश

में आया लोंकाशा मुसलमान सैयदों के वचनों पर विश्वास कर अपने धर्म से च्युत हुआ। इससे पूर्व लोंकाशा त्रिकाल श्री जिन-पूजा करता था, ऐसा उल्लेख मिलता है। पर साधुओं द्वारा अपमानित होने के बाद अग्नि में घी की भाँति उसे सैयदों का संयोग मिल गया तथा सैयदों ने उससे मन्दिर और मूर्ति छुड़वा दिये। तब से वह पूजन कार्य को निरर्थक मानने लगा! सैयदों ने उसको कहा कि—'ईश्वर तो मुक्ति में है तथा गन्दगी से दूर है तो इसके लिये मूर्तियों की, मन्दिरों की तथा स्नान विलेपन की क्या जरूरत है?" लोंकाशा को यह बात पूर्ण सत्य लगी।

मिथ्यात्व के उदय से ऐसी झूठी बातें भी कई बार हृदय में इस प्रकार घर कर जाती हैं कि उसके सम्मुख फिर अनेक युक्तियाँ, आगम अथवा इतिहास आदि के प्रमाण भी रखने में आवे तो भी वे निकल नहीं पातीं। और इसी कारण अनेक नये निकलने वाले पंथों और मतों की तरह लोंकाशा ने भी अपना मत खड़ा कर दिया।

लोंकाशा ने केवल मूर्ति पूजा का ही विरोध नहीं किया पर जैन आगम, जैन संस्कृति, सामायिक प्रतिक्रमण, दान, देव पूजा तथा प्रत्याख्यान आदि का भी विरोध किया। अन्तिम अवस्था में इसे अपने दुष्कृत्यों का पश्चाताप भी हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने सामायिक-पौषध-प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को आदर सूचक स्थान दिया और बाद में दान देने की भी छूट दी। इसके पश्चात मेघजी ऋषि आदि ने इस मत का सदंतर त्याग कर पुनः जैन दीक्षा को स्वीकार किया है तथा वह मूर्ति पूजा के समर्थक एवं प्रचारक बने। लोंकागच्छीय आचार्यों ने मन्दिरों तथा मूर्तिओं की प्रतिष्ठा करवाई तथा

अपने उपाश्रय में भी प्रतिमाओं की स्थापना कर मूर्तियों की उपासना की है।

लोंकागच्छ का एक भी उपाश्रय ऐसा नहीं था जहाँ श्री वीतराग प्रभु की मूर्ति न हो। परन्तु विक्रम की १८ वीं सदी में यति धर्मसिंह और लवजी ऋषि-दोनों ने लोंकागच्छ से अलग होकर पुनः मूर्ति के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया। लोंकागच्छ के श्रीपूज्यों ने दोनों को गच्छ से बाहर कर दिया पर उन दोनों के द्वारा प्रचारित मत चल पड़ा। इस नये मत को "ढूँढक मत" का उपनाम मिला। इस संप्रदाय का दूसरा नाम "साधु मार्गी" अथवा "स्थानकवासी" पड़ा। इन ढूंढियों और लोंकाशा के अनुयायियों में क्रिया और श्रद्धा में दिन-रात जैसा अंतर है। स्थानकमार्गी यानी ढूंढक लवजी ऋषि के अनुयायी हैं।

स्थानकवासी समाज की उत्पत्ति का यह संक्षिप्त इतिहास है। आज उनमें से भी बहुतों ने मूर्ति पूजा की आवश्यकता और हितकारिता को स्वीकार किया है।

इस प्रकार मूर्ति पूजा का अस्तित्व सनातन काल का है। सभी सुविहित आचार्यों ने इस विधान को आदर देकर जैन समाज पर बड़ा उपकार किया है।

मूर्ति पूजा के विरोधी भी मूर्ति पूजा को मानते हैं—इसके उदाहरण :

मूर्ति पूजा का सर्व प्रथम विरोधी महम्मद है परन्तु उसके अनुयायी भी अपनी मस्जिदों में पीरों की आकृतियाँ बनाकर पुष्प-धूपादि से पूजते हैं, ताजीया बनाकर उसके आगे

रोना-पीटना करते हैं तथा यात्रा के लिये मक्का मदीना जाकर वहाँ एक काले पत्थर को चुम्बन करते हैं तथा ऐसा मानते हैं कि इससे पाप नष्ट होते हैं।

मूर्ति पूजा नहीं मानने वाले ईसाई सूली पर लटकती ईसा-मसीह की मूर्ति और क्रॉस स्थापित कर अपने चर्च में उसे पूज्य-भाव से देखते हैं, द्रव्य भाव से पूजा करते हैं तथा पुष्पहार चढ़ाते हैं।

कबीर, नानक, रामचरण आदि मूर्ति विरोधिओं के अनु-यायी अपने अपने पूज्य पुरुषों की समाधियाँ बनाकर पूजते हैं। समाधियों के दर्शनार्थ भक्त लोग दूर दूर से आते हैं तथा पुष्पादि पदार्थ चढ़ा कर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं।

स्थानकवासी वर्ग अपने पूज्यों की समाधि, पादुका, मूर्ति, चित्र आदि बनाकर उपासना करते हैं, दर्शन हेतु दूर दूर से आते हैं तथा दर्शन कर अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

कोई भी पंथ, मत, संप्रदाय, जाति, धर्म तथा व्यक्ति मूर्ति-पूजा से वंचित नहीं है। मूर्ति पूजकों ने संसार पर जितना उपकार किया है, विरोधिओं ने उतना ही अपकार किया है। मूर्ति आत्मकल्याणकारक होकर संसार के सभी जीवों की सच्ची उन्नति का साधन है। इसका विरोध आत्म-अहित का तथा विश्व भर के अधःपतन का प्रमुख कारण है।

—

प्रतिमा-पूजन ३

प्रतिमा-पूजन की शाश्वतता

आत्मकल्याण का अगत्य का अंग :

"नामाकृति द्रव्यभावैः, पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मि - न्नर्हंतः समुपास्महे ।।१।।"

इस सुरम्य पधरत्न में परम उपकारी, कलिकाल सर्वज्ञ, आचार्य भगवान् श्रीमद् हेमचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा फरमाते हैं कि—

"सभी कालों में तथा सभी क्षेत्रों में 'नाम, आकृति, द्रव्य और भाव'–इन चारों स्वरूपों द्वारा तीनों जगत् के लोगों को पवित्र करने वाले श्री अरिहंतों की हम उपासना करते हैं ।"

उपर्युक्त पद्य से यह भाव निकलता है कि श्री अरिहंत भगवानों की मूर्तियाँ और उनकी पूजा आजकल की नहीं परंतु सदा की हैं । श्री अरिहंतों के चार निक्षेपा उपास्य हैं । इन चार में से एक भी निक्षेपा की उपेक्षा सम्यक्त्व की प्राप्ति में बाधक तथा प्राप्त सम्यक्त्व को नाश करने वाली है ।

कोई भी काल ऐसा नहीं कि जिसमें मूर्ति पूजा का अस्तित्व न हो तथा कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं कि जिसमें श्री अरिहंत देवों की मूर्तियां उनके उपासकों को पवित्र न करती हों । मूर्तिपूजा आत्मकल्याण का प्रारंभिक अंग है । अधिकार एवं योग्यता

के अनुसार साधुओं की भाँति श्रावकों के लिये भी श्री अरिहंत परमात्माओं की भावपूजा तथा द्रव्यपूजा निरंतर आवश्यक है। इसके अनुसार नहीं चलने वाले साधु तथा श्रावक को शास्त्रकारों ने प्रायश्चित का भागीदार बताया है।

जहाँ तीर्थ होता है वहाँ पूजा होती ही है :

भरत और ऐरवत क्षेत्र में प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में एकेक चौबीसी होती है। हर चौबीसी में चौवीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं। ऐसी अनंती चौबीसी अतीत में हो गई और भविष्य में होगी। महाविदेह क्षेत्र में तो श्री तीर्थंकरों का विरह ही नहीं है। अतः जब जब और जहाँ जहाँ उन परमोपकारी तीर्थंपतियों का तारक तीर्थ प्रवर्तता है तब तब उन उन स्थानों पर श्री जिन मंदिरों और श्री जिन मूर्तियों तथा उनकी उपासना का अस्तित्व स्थायी रूप से है। इसका कारण यह है कि श्री जिनेश्वरदेवों के पवित्र मार्ग में श्री जिनेश्वर देवों की पूजा को सम्यक्त्व शुद्धि का एक परम अंग और आत्मोन्नति का एक अद्वितीय साधन माना गया है।

श्री तीर्थंकरों का उपकार :

श्री तीर्थंकर देवों का जगत् पर असीम उपकार है। समस्त विश्व का हित करने की सर्वोत्तम भावना में से श्री तीर्थंकर पद का जन्म हुआ है। इसलिये उन्होंने अनेक भवों से शुभ प्रयत्न कर तीसरे भव में जिन-नाम कर्म की निकाचना की होती है। अंतिम भव में वे विश्ववंद्य पुण्य कर्म का उपयोग करते समय विश्व के समस्त प्राणियों के लिये हितकारी धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं।

इस तीर्थ के प्रभाव से समस्त धर्म-कर्म की सुव्यवस्था विश्व में प्रवर्त होती है। संसार सागर से भव्य आत्माओं को तारने के लिये ये तीर्थ समर्थ होते हैं। महा सत्वशाली प्राज्ञ पुरुषों का वह आश्रयस्थान होता है। यह तीर्थ अविसंवादी और अचिन्त्य शक्तियुक्त है और उसका जो कोई आश्रय लेता है उसे वह भयानक भवसागर से तारने में समर्थ है। द्वादशांगी, उसका आधार चतुर्विध श्रीसंघ और उसके आद्य रचयिता श्री गणधर-देव, ये तीनों तीर्थ कहलाते हैं। इन तीर्थ के आद्य प्रकाशक एवं आद्य स्थापक श्री तीर्थङ्कर देव हैं। जैन धर्म की प्रतिष्ठा जगत् में व्याप्त है तो उसमें मूल कारण श्री तीर्थङ्कर देव तथा उनके जीवन की विशिष्टता है।

वास्तव में तो श्री तीर्थङ्कर देवों का सर्वोच्च जीवन ही जैन धर्म की महान् सम्पत्ति है। जैन धर्म की स्थायित्व की यदि कोई मजबूत जड़ है तो वह भी वही है। कभी सर्वनाश जैसी स्थिति भी आ जाय तो भी श्री तीर्थंकर देवों के सर्वोच्च जीवन का आदर्श जहाँ तक जगत् में विद्यमान है तब तक पुनः धर्म जागृति आते देर नहीं लगती। जैन धर्म की सर्वोपरिता और दृढ़मूलता होने का मुख्य कारण श्री तीर्थङ्कर देवों का सर्वोच्च जीवन ही है और इसी कारण सभी जैन अपनी सभी प्रवृत्तियों में श्री तीर्थंकर देवों के जीवन को ही ऊँचा स्थान देते हैं।

श्री तीर्थंकरों की पूज्यता-उनकी विद्वता, राज्य सत्ता अथवा रूप-रंगादि के कारण नहीं है परन्तु उनके श्री तीर्थंकरपन के कारण है। और इसीलिये जैन शास्त्रकारों ने श्री तीर्थंकरों की लग्न, राज्य व युद्ध लीला अथवा क्रीड़ा आदि की घटनाओं

को उपादेय के रूप में आगे नहीं रक्खा परन्तु च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य तथा मोक्ष अवस्थाओं को आगे रखकर ही उनकी उपासना की है।

महिमाशाली जीवन :

जगत् में एक से एक बढ़कर दूसरा मनुष्य मिल ही जाता है। कोई रूप में, कोई गुण में कोई जाति में अथवा कुल में, कोई बुद्धि अथवा शास्त्र में, कोई कला अथवा कौशल में, कोई ऋद्धि अथवा समृद्धि में तथा कोई लाभ अथवा ख्याति में—इन सब का गर्व, मद आदि यदि कोई उतारने वाला है तो वह श्री तीर्थंकर देवों का जीवन ही है। क्रोध, रोष, ईर्ष्या अथवा सहिष्णुता, माया अथवा दंभ, अनीति अथवा अनाचारादि दोषों को रोकने की इस जगत् में सत्य प्रेरणा यदि किसी भी स्थान से प्राप्त हो सकती है तो वह भी श्री तीर्थंकर देवों के जीवन से ही प्राप्त हो सकती है। श्री तीर्थंकर देवों का आदर्श जीवन दूसरों में रहने वाले सभी दोषों और विकारों को प्रकट में लाता है तथा योग्य आत्माओं के उन दोषों को बढ़ने से रोकता है तथा उनका नाश भी कर देता है।

इस जगत् में जो कोई अच्छाई, उज्जवलता अथवा पवित्रता आदि दिखाई देती है वह सब प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से तीर्थंकर देवों के अति उज्जवल तथा पवित्र जीवन का ही प्रभाव है। उन उद्धारकों के जीवन की भव्यता असंख्य आत्माओं को अपने विकास स्थान पर से आगे बढ़ने में अनायास रूप से एक सबल निमित्त रूप सिद्ध हुए बिना नहीं रहती।

गुणज्ञ भक्तों की भावना :

सभी जीवों के विकास में सब समय समान रूप से उपकारक श्री तीर्थंकर देवों का उपकार स्मृति पट पर ताजा बना रहे तथा विस्मरण न हो जावे इस कारण उनकी उपस्थिति एवं अनुपस्थिति में उनके प्रति रहने वाली सन्मुखवृत्ति को बनाये रखने के लिये प्रतिमा तथा मन्दिरों द्वारा भक्ति करने की प्रथा विवेकी वर्ग में सर्वदा होती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

संसार पर किये हुए उनके उपकार बुद्धिशाली आत्माओं को सहज रूप से वैसा करने की प्रेरणा देते हैं। इस उपकार को समझने वाले उनकी प्रतिमा के दर्शन किये बिना अन्न या जल भी नहीं लेते। पूरे दिन यदि दर्शन नहीं हो तो उपवास करते हैं। हमेशा त्रिकाल दर्शन तथा सात बार चैत्यवन्दन अवश्य करने की प्रतिज्ञा धारण करते हैं। श्री तीर्थंकरों के प्रति इस महान् पूज्यभावना के परिणाम स्वरुप स्थान स्थान पर बड़े बड़े मन्दिर स्थापित होते हैं और उनमें बहुत सी मूर्तियां प्रतिष्ठित होती हैं। बड़े शहरों, कल्याणक स्थलों तथा अन्य महत्वपूर्ण व सामान्य स्थलों में अनेकों मन्दिर एवं प्रतिमाएँ अस्तित्व में आती हैं। विवेकी आत्मा सदा ऐसे सुन्दर अवसर की हार्दिक कामना करते हैं कि सारी पृथ्वी श्री जिन मन्दिरों से सुसज्जित हो जावे।

आधुनिक संस्कृति के पुजारी को दुनिया में हर स्थान और हर गाँव में हाई स्कूल, हॉस्पिटल अथवा पोस्ट ऑफिस आदि स्थापित करने की महत्वाकांक्षा होती है। इमसे भी अनेक गुणी महत्वाकांक्षा श्री तीर्थंकर देवों के सर्वोच्च गुणों को पहचानने

वाली आत्माओं की उनकी स्मृति को ताजी बनाने वाले मंदिरों एवं मूर्तियों को सर्वत्र प्रतिष्ठापन करने की होती है।

सम्मान का भाव जागृत करने हेतु :

प्रजा तीर्थंकरों के दर्शन से वंचित न रह जाय इस उद्देश्य से बड़े २ तीर्थ बनवाये जाते हैं, बडे २ यात्रागमन, समारंभ, चैत्य, रथोत्सव, महापूजा और ऐसी अन्य कई उत्साहजनक प्रवृतियाँ करने में आती हैं और ऐसा करके अपना तथा प्रजा का तीर्थंकरों की तरफ के सम्मान का भाव जागृत करने तथा निरन्तर चालू रखने के प्रयत्न किये जाते हैं।

श्री तीर्थंकरों के गुणों के जानकारों से ऐसा किये बिना रहा ही नहीं जा सकता। कैसी भी प्रवृत्ति में पड़ा हुआ व्यक्ति भी इन वाद्ययंत्रों की आवाज से सिर ऊँचा उठाये बिना रह नहीं सकता। जाने अनजाने भी आत्मिक उन्नति के योग्य बीजारोपण उसकी आत्मा में पड़ जाते हैं। वे बीज पत्तों के रूप में बदल कर भविष्य में बड़ा रूप धारण कर लेते हैं।

श्री जिनमंदिरों की कल्याणकारिता :

श्री जिनमंदिर मूर्तियों तथा उनकी पूजा के महोत्सव आत्मोन्नति एवं आत्मविकास के अनन्य साधन हैं, धार्मिक जीवन के लक्ष्यबिंदु हैं तथा त्रिकालिक उत्तमोत्तम कर्तव्य हैं, कारण कि छोटी बड़ी धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में वहीं से उत्पन्न होती हैं। श्री जिनमंदिरों की महिमा का वर्णन करते हुए एक विद्वान पंडित ने ठीक ही कहा है कि—"श्री जिनमंदिर विकास मार्ग से विमुख प्राणियों को इस मार्ग

पर आगे बढ़ने के लिये अगम्य उपदेश देने वाले मूल्यवान ग्रंथ हैं। पथभ्रष्ट भवाटवी के पथिकों को राह बताने के लिये प्रकाश स्तंभ हैं, आधि, व्याधि व उपाधि के त्रिविध ताप से जली हुई आत्माओं को विश्राम के लिये आश्रय स्थान हैं। कर्म तथा मोह के आक्रमण से व्यथित हृदयों को आराम देने के लिये संरोहिणी औषधि है। आपत्ति रूपी पहाड़ी-पर्वतों में घटादार छायादार वृक्ष हैं। दुःख रूपी जलते दावानल में शीतल हिमकूट है। संसार रूपी खारे सागर में मीठे झरने हैं। संतों के जीवन प्राण हैं। दुर्जनों के लिये अमोघ शासन है। अतीत की पवित्र स्मृति है। वर्तमान के आत्मिक विलास भवन हैं। भविष्य का भोजन है। स्वर्ग की सीढ़ी है। मोक्ष के स्तम्भ हैं। नरक-मार्ग में दुर्गम पहाड़ है तथा तिर्यंचगति के द्वारों के विरुद्ध शक्तिशाली अर्गला है।"

भक्ति के पीछे रहस्य :

तीर्थंकरों के प्रति जैनों की भक्ति उन्मादी नहीं वरन् सहेतुक, प्रमाण सहित एवं सम्यग्ज्ञान से युक्त है। उसके पीछे गहन आध्यात्मिक रहस्य, मानसशास्त्र के सिद्धान्त तथा सर्वोच्च नीति-नियमों का पालन रहा है। उन सबके विस्तृत विवेचन, आगमशास्त्रों तथा उनसे संबंधित विशालकाय साहित्य में, बुद्धिगम्य ढंग से वर्णित हैं।

अज्ञानवश विरोध :

महान् उपकारी विश्ववंद्य श्री वीतरागदेव की निर्विकार, शान्त, ध्यानावस्थित मुद्रा जगत् पूज्य है, सभी दुःखों का नाश करने वाली है तथा सभी सुखों की प्राप्ति का परम साधन है।

फिर भी इस जगत् में उसी का विरोध करने वाला, उसके आगे जैसे तैसे बाधा खड़ी करने वाला और पूजा के मूल को उखेड़ने में ही अपने जन्म की सार्थकता समझने वाला वर्ग भी है, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

किसी विद्वान ने ठीक ही कहा हैं कि—

"इस जगत् में ज्ञानी जितना उपकार कर सकता है उसकी अपेक्षा अज्ञानी अधिक अपकार कर सकता है। अज्ञान एक भयंकर वस्तु है। अज्ञान के कारण इस जगत् में जितने अनर्थ होते हैं उतने हिंसा आदि क्रूर पापकर्मों से भी नहीं हो सकते। सारे जगत् पर अज्ञान का साम्राज्य छाया हुआ है। इसकी छाया तले रहने वाली आत्मा जिन प्रतिमा और उसकी पूजा का विरोध न करे, यह कैसे हो सकता है।"

जगत् में ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान अधिक है, सुयुक्तियों की तुलना में कुयुक्तियों की मात्रा अधिक है, उसी प्रकार सम्यग्-दृष्टि और निराग्रही आत्माओं से मिथ्यादृष्टि एवं दुराग्रही आत्माएँ अधिक हैं, यह बात श्री जिन प्रतिमा और उसकी पूजा के विरोधी प्रचार कार्य से प्रत्यक्ष प्रकट होती है। श्री जिन-प्रतिमा उसकी पूजा करने वालों को प्रत्यक्ष रूप से अनेक लाभ देती रही है तथा सर्व सिद्धान्तवेदी सज्जन पुरुषों ने उसको अपने अन्तःकरण से समर्थन दिया है फिर भी अज्ञान कुवासना ग्रस्त तथा आग्रह के कारण मतांध बने लोग उसका खंडन करने में कुछ भी बाकी नहीं रखते।

प्रतिमा और उसकी पूजा के निषेधकों की मुख्य दलील दो हैं। एक तो यह कि प्रतिमा जड़ है तथा दूसरी यह कि पूजा में

हिंसा निहित है। इन दोनों प्रकार की दलीलों का सुयुक्तिपूर्ण एवं हृदयंगम जवाब इस पुस्तक में दी गई प्रश्नोत्तरी में मिल जायगा।

आगम मानने वालों को, पंचागी को भी मान्य करना ही चाहिये :

प्रतिमा को नहीं मानने वाला 'स्थानकवासी' वर्ग भी किसी रूप में आगम में तो विश्वास करता ही है। प्रतिमा वीतराग के रूपी आकार की स्थापना है परन्तु आगम तो श्री वीतराग के अरूपी ज्ञान की अक्षरशः स्थापना है। श्री वीतराग के साक्षात आकार की स्थापना को नहीं मानने की हिम्मत करने वाले भी श्री वीतराग के अरूपी ज्ञान के अक्षराकार-स्थापना-स्वरूप आगम को नहीं मानने का साहस नहीं करते। यह बात भी स्थापना के अप्रतिहत प्रभाव को ही सूचित करती है।

स्थानकवासी वर्ग पैंतालीस आगम में से अपने इष्ट के रूप में बत्तीस आगम और वे भी मूल मात्र ही मानता है। ऐसा मानते हुए भी इन बत्तीस आगमों में भी स्थापना निक्षेपा की कितनी प्रबल व्यापकता रही हुई है, यह समझाने के लिये परोपकारी शास्त्रकार महर्षिओं ने कम प्रयास नहीं किया है। श्री जिनेश्वर देव का धर्म श्री जिनेश्वरदेव की आज्ञा के पालन में है न कि मात्र कल्पित दया के कल्पित प्रकार के पालन में।

जहाँ दया वहाँ जिनधर्म, ऐसी व्याख्या यदि निरपेक्ष है तो वह अधूरी और असत्य है। जहाँ श्री जिन की आज्ञा वहाँ श्री जिन का धर्म, यह संपूर्ण और सच्ची व्याख्या है। श्री जिन की आज्ञा आगमों में निबद्ध है और आगमों का अर्थ पंचांगी-

युक्त शास्त्रों में गूँथा हुआ है। सूत्र, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीकायें पंचांगी हैं। इनमें से एक भी अंग को नहीं मानने वाले वस्तुतः आगमों को ही अमान्य ठहराने वाले हैं। सूत्र के रचयिता श्री गणधर भगवंत हैं तथा अर्थ बताने वाले श्री अरिहंतदेव हैं। श्री गणधर भगवंत के वचनों को मान्य रखना और श्री अरिहंत भगवंत के कथन की उपेक्षा करना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है।

सूत्र केवल सूचना रूप होते हैं। सूत्रों द्वारा दी गई सूचना जिसमें विस्तार से कही गई है उन्हीं को निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि आदि माना गया है। उनके रचनाकार श्रुतकेवली, पूर्वधर तथा अन्य बहुश्रुत भवभीरू महर्षि हैं। वे असाधारण गीतार्थ, विद्वान और पण्डित हैं। उनके वचनों को मानना बुद्धि की सार्थकता है।

प्रतिमा की वंदनीयता के प्रमाण :

प्रतिमा निषेधकों के माने हुए बत्तीस सूत्र अथवा आगमों के नाम निम्नानुसार हैं :—

ग्यारह अंग, बारह उपांग, नंदी, अनुयोग, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ और दशाश्रुतस्कंध।

इन बत्तीस सूत्रों में भी स्थान स्थान पर स्थापना-निक्षेपा की सत्यता, माननीयता एवं वंदनीयता बताई हुई है। उसकी थोड़ी सी हकीकत नीचे माफिक है —

१. श्री अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्येक पदार्थ के कम से कम 'नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव' ये चार निक्षेपा करने की आज्ञा दी गई है।

२. श्री ठाणांग सूत्र में चार तथा दस सत्यों का निरूपण किया गया है तथा इसमें स्थापना को भी सत्य रूप में स्वीकार किया गया है।

३. श्री आवश्यक सूत्र में चारों निक्षेपों से श्री अरिहंत का ध्यान करने का आदेश है जिनमें चतुर्विंशतिस्तव से नाम और द्रव्य निक्षेप से तथा चैत्यस्तव द्वारा स्थापना निक्षेप से श्री जिनेश्वर देव की आराधना दर्शाई गई है।

४. श्री भगवती सूत्र के प्रारम्भ में ज्ञान की स्थापना के रूप में श्री गणधर देवों ने श्री बंभी लिपी को नमस्कार किया हैं

५. श्री दशवैकालिक सूत्र में स्त्री की प्रतिकृति भी देखने की साधु को मनाई कर स्थापना के शुभाशुभ प्रभाव स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया हुआ है।

६. श्री भगवती सूत्र के वीसवें शतक के नवें उद्देशा में लब्धिधर चारण मुनियों द्वारा शाश्वत और अशाश्वत जिन प्रतिमाओं की, की हुई वंदना का स्पष्ट उल्लेख है।

७. श्री समवायांग सूत्र में चारण मुनि श्री नन्दीश्वर द्वीप में चैत्यवंदना के लिये जाते हैं तब सत्रह हजार योजन ऊर्ध्व गति करते हैं, इसका स्पष्ट वर्णन है।

प्रतिमा की पूजनीयता के प्रमाण :

श्री जिन प्रतिमा जिस प्रकार वंदनीय है उसी प्रकार पूजनीय भी है। इसके लिये इन्हीं बत्तीस आगमों में निम्न प्रकार के प्रमाण मौजूद हैं :—

श्री रायपसेणी सूत्र में श्री सूर्याभदेव द्वारा की हुई पूजा का विस्तृत वर्णन है। श्री सूर्याभ देवता परम सम्यग्दृष्टि, परित्तसंसारी, सुलभ बोधि और परम आराधक आदि है, ऐसा भगवान् ने स्वमुख से फरमाया है।

श्री ज्ञाता सूत्र में भवनपति निकाय के देवियों की जिन भक्ति की प्रशंसा की है।

श्री भगवती सूत्र में प्रभु के सामने इन्द्रादि द्वारा किये हुए नाटक की प्रशंसा है।

श्री जीवाभिगम सूत्र में श्री विजयदेव द्वारा किये गये नाटक की प्रशंसा है।

श्री ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में श्री नन्दीश्वर द्वीप पर कई देवी देवताओं के पूजा भक्ति करने का वर्णन है।

श्री जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में श्री जिनेश्वरदेव की दाढ़ें और अस्थिदंत प्रमुख अवयव, देवता भक्ति पूर्वक अपने स्थान पर ले जाकर पूजते हैं तथा अग्निदाह के स्थान पर प्रमुख स्तूप की रचना करते हैं, इसका स्पष्ट वर्णन है।

श्री भगवती सूत्र के दसवें शतक के छठे उद्देशा में इन्द्र अपनी सुधर्मसभा में श्री जिन दाढों की आशातना के वर्जन का वर्णन है।

श्री दशवैकालिक सूत्र में देवताओं को मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विवेकी बतलाया है तथा उन देवताओं के जीव पूर्वभव में तपस्या और श्रुत की अराधना करके देवलोक में उत्पन्न हुए हैं; अतः उनके कृतकार्य अत्यन्त माननीय हैं, ऐसा प्रतिपादन किया हुआ है।

श्रावकों के भी प्रतिमा की पूजनीयता के प्रमाण :

बत्तीस आगमों में जैसे देवताओं के श्री जिन प्रतिमा की पूजा करने के उल्लेख हैं वैसे इन्हीं बत्तीस आगमों में मनुष्यों द्वारा की हुई प्रतिमा पूजन के भी अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनमें से कई निम्नानुसार हैं :—

श्री उववाई सूत्र में ऐसा बताया गया है कि अबंड परिव्राजक और उसके ७०० शिष्यों ने श्री वीतराग को नमन करने की तथा उनको प्रतिमा को छोड़कर अन्य किसी को नमन नहीं की प्रतिज्ञा की थी।

श्री उपासक दशांग सूत्र में यह बताया गया है कि आनन्द-श्रावक ने अन्यतीर्थी अथवा अन्य देवी देवता तथा उनकी प्रतिमाओं को वन्दन नमस्कार आदि नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी।

श्री भगवती सूत्र में असुरकुमारदेव सौधर्म देवलोक तक जाते हैं। उस समय श्री अरिहंत, उनके चैत्य तथा अणगार मुनि, इस प्रकार तीनों का शरण स्वीकार करते हैं, ऐसा वर्णन किया हुआ है।

श्री समवायांग सूत्र में आनंदादि दस श्रावकों के चैत्य आदि का वर्णन किया हुआ है।

श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में श्री जिनप्रतिमा का वैयावच्च आदि करने की आज्ञा दी गई है। (यहाँ प्रतिमा के वैयावच्च से तात्पर्य है इसके अवर्णवाद, उपेक्षा, विराधना आदि को टालना)

श्री कल्पसूत्र में श्री सिद्धार्थ राजा के अनेक याग अर्थात् श्री जिनप्रतिमा की पूजा करने के उल्लेख हैं। (श्री सिद्धार्थ-राजा परम सम्यग्दृष्टि श्रावक थे। उनका पशुहिंसा का यज्ञ करवाना संभव नहीं है। श्री भगवती आदि सिद्धान्तों में जहाँ राजा श्रेणिक और महाबलकुमार प्रमुख के अधिकार आते हैं वहाँ "ण्हाया कय बलिकम्मा" ऐसे जो उल्लेख किये हुए हैं इस बलिकर्म का अर्थ भी जिनपूजा ही समझना है)

श्री ज्ञातासूत्र में द्रौपदी की पूजा का विस्तृत अधिकार है। (द्रौपदी परम सम्यग्दृष्टि श्राविका थी। शासन प्रभावना सम्यक्त्व के आठ आचारों में से एक है। श्री जिनप्रतिमा की महोत्सवपूर्वक पूजा भी शासन प्रभावना का तथा शासन-उन्नति का एक परम अंग है, ऐसा श्री उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में वर्णित है)

श्री जिनपूजा में हिंसा अथवा अधर्म नहीं :

"श्री जिनपूजा में हिंसा होती है" ऐसा कहकर जो उसका निषेध करते हैं उनके लिये भी उनको मान्य बत्तीस आगमों के आधार पर नीचे अनुसार हितशिक्षा है :—

जिस २ क्रिया में हिंसा होती है वह यदि त्याज्य है तो सुपात्रदान, मुनिविहार, साधर्मिक-वात्सल्य तथा दीक्षा महोत्सव आदि सभी धर्मकार्य भी त्याज्य ही माने जायेंगे। परंतु श्री

आवश्यक सूत्र, श्री भगवती सूत्र, श्री आचारांग सूत्र और श्री ज्ञातासूत्र आदि आगमों में मुनिदान, साधुविहार और सार्धमिक वात्सल्य आदि धर्मकार्य करने की साधु तथा श्रावक दोनों को आज्ञा दी गई है। **श्री उववाई सूत्र** में राजा कोणिक के किये हुए प्रभु के वंदन महोत्सव का विस्तृत वर्णन है। **श्री भगवती सूत्र** में उदायन राजा द्वारा किया हुआ भगवान् के नगर प्रवेश महोत्सव का तथा तुरीया नगरी के श्रावकों द्वारा की गई श्री जिनपूजादि का वर्णन है।

श्री विपाक सूत्र में सुबाहुकुमार का वर्णन है। उसमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक पर रहे हुए भी उन सुबाहुकुमार द्वारा किये हुए सुपात्रदान से भी पुण्यबंध तथा परित्त-संसार होने का कहा है। जो हिंसा के योग से केवल अधर्म ही होता तो सुबाहु-कुमार को पुण्यबंध की प्राप्ति तथा परित्त-संसारिता की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती थी। पर सच्ची बात तो यह है कि दान की भाँति जिन पूजा भी परित्त-संसार तथा पुण्यबंध का कारण होती है।

श्री जिनपूजा तथा सुपात्रदानादि धर्म कार्यों में आरंभ होता है पर फिर भी वह सदारंभ है और उसके योग से संसार के अन्य असदारंभ से निवृत्ति होती है, यह बड़ा लाभ है। जो लोग घर, कुटुंब, धन-माल, परिवार, बिरादरी आदि असदारंभों में मुक्त नहीं हुए हैं उनके लिये दान, देवपूजा, स्वामिवात्सल्य आदि सदारंभ हितकारी तथा करणीय हैं। **श्री रायपसेणी सूत्र** में श्री केशी नाम के गणधर भगवंत ने प्रदेशी राजा को असदारंभ छोड़ने को कहा है न कि सदारंभ। सदारंभ में दो गुण हैं : जहाँ तक सदारंभ रहता है वहां तक असदारंभ नहीं हो सकता

तथा सदारंभ में जो द्रव्य खर्च होता है उस द्रव्य से असदारंभ का सेवन नहीं होता ।

हिंसा के तीन प्रकार :

साधु अथवा श्रावक के जितने भी उत्तम कार्य हैं उनमें हिंसा निहित है पर यह हिंसा कर्मबंध का कारण नहीं है क्योंकि हिंसा तीन प्रकार की कही गई है : हेतु, स्वरूप और अनुबंध । सांसारिक कार्यों की सिद्धि के लिये होने वाली हिंसा हेतु-हिंसा है, धर्म कार्यों के लिये होने वाली अनिवार्य हिंसा स्वरूप-हिंसा है तथा मिथ्यादृष्टि आत्मा से होने वाली हिंसा अनुबंध हिंसा है । इनमें स्वरूप हिंसा कर्मबंध का कारण नहीं है ।

धर्म कार्य के समय प्राणी की हत्या का नहीं परन्तु उसकी रक्षा करने का उद्देश्य होता है पर फिर भी अनिवार्य रूप से यदि हिंसा हो जाती है तो वह स्वरूप हिंसा है । स्वरूप हिंसा तेरहवें गुणस्थानक तक नहीं टल सकती परन्तु इसे केवलज्ञानादि गुणों की प्राप्ति में प्रतिबंधक नहीं माना गया है ।

हेतु-हिंसा व अनुबंध-हिंसा त्याज्य है क्योंकि वे संसार के हेतुभूत क्लिष्ट कर्मों के उपार्जन में हेतुभूत है । श्री आचारांगादि सिद्धान्तों में अपवाद रूप से हिंसा आदि का प्रयोग करने वाले मुनिवरों को तथा समुद्र के जल में अपकायादि की विराधना होते हुए भी शुभध्यानारूढ मुनिवरों को केवलज्ञान तथा मुक्ति प्राप्त होने के उदाहरण हैं । संयम शुद्धि के लिये आवश्यक साधु विहारादि की भाँति श्री जिनभक्ति आदि में होने वाली हिंसा को श्री जिन आगमों ने कर्मबंध करने वाली नहीं माना है । केवल दया की निरपेक्ष प्रधानता, यह लौकिक मार्ग है । लोकोत्तर मार्ग श्री जिनाज्ञा की प्रधानता में बसा हुआ है ।

श्री जिनशासन स्याद्वादगर्भित है। सुविवेक पूर्वक के आशयभेद से हिंसा भी अहिंसा बन जाती है तथा विवेकहीन की अहिंसा भी हिंसा बन जाती है। आत्मभाव का जिसमें हनन होता है वह हिंसा है पर जिससे आत्मभाव का हनन नहीं होता वह हिंसा नहीं है। दान, देवपूजा, प्रतिक्रमण, पौषध, साधु-विहार तथा सार्धमिक वात्सल्य आदि आत्मा का हनन करने वाली क्रियाएँ नहीं हैं और इसीलिये वे परंपरा से पूर्ण अहिंसा मय हैं तथा वे मुक्ति दिलाती हैं। 'मुक्ति के साधनों का सेवन करते समय होने वाली अनिवार्य हिंसा आत्मभाव का हनन करने वाली नहीं होती' यह समझ जिनको नहीं आई वे धर्म बुद्धि से ही अधर्म का सेवन करने वाले बनें अथवा अधर्म के सेवन को ही धर्म का कारण मानने लगें तो इसमें कोई बड़ी बात नहीं है।

दानादि शुभ कार्यों की भाँति श्री जिनपूजा आत्मभाव को विकसित करने वाली है; अतः हिंसा के नाम पर इससे दूर रहना या दूसरों को दूर भगाना घोर अज्ञानतापूर्ण आत्मघाती कदम है।

मूर्ति को नहीं मानने से होने वाले नुकसान :

मूर्ति को नहीं मानने से निम्न लिखित नुकसान स्पष्ट हैं :

१. मूर्ति को नहीं मानने के कारण ३२ उपरांत के आगमों से, पूर्वधरों द्वारा बनाये गये निर्युक्ति आदि ज्ञान के समुद्र समान महाशास्त्रों से तथा उनके उत्तमोत्तम सद्बोधों से वंचित रहना पड़ता है और आगमों के सूत्रों को एवं ग्रन्थकर्ता प्रामाणिक महापुरुषों को अप्रामाणिक कहकर ज्ञान तथा ज्ञानियों की आशातना से घोर पापकर्मों का उपार्जन होता है।

२. बत्तीस आगमों की भी निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि वगैरह नहीं मानने से, उनके विरुद्ध स्व-कपोल-कल्पित टीका-टब्बे आदि बनाकर, स्व-पर को अनर्थ के भयंकर खड्डे में डुबोना है।

३. अन्य चरित्रादि ग्रन्थों में से मूर्ति-विषयक पाठ उड़ा कर उसकी जगह स्व-कल्पित पाठ लिखकर सैंकड़ों ग्रन्थों में मूल ग्रन्थकर्ता के अभिप्राय के विरुद्ध उथल पुथल और चोरियाँ करनी पड़ती हैं और इससे भी महा कर्म बंधन होता है।

४. मूर्ति को नहीं मानने से यात्रा हेतु तीर्थ स्थानों में जाना आदि स्वतः ही बन्द हो जाता है। इससे तीर्थ स्थानों में यात्रा निमित्त जाने के जो लाभ होते हैं वे अपने आप नष्ट हो जाते हैं। तीर्थ भूमि में जाने पर उतना समय गृहकार्य, व्यापार, आरम्भ, परिग्रहादि से स्वाभाविक मुक्ति मिलती है पर जब ऐसे स्थानों पर जाना बन्द हो जाता है तब ब्रह्मचर्य पालन तथा शुभ क्षेत्रों में द्रव्य व्यय आदि द्वारा जो पुण्योपार्जन आदि होता है वह रुक जाता है।

५. मूर्ति को नहीं मानने से श्री जिनेश्वर देव की द्रव्यपूजा छूट जाती है और इससे द्रव्यपूजा निमित्त जो शुभ द्रव्य व्यय होता है तथा भगवान् के सामने स्तुति, स्तोत्र, चैत्य-वंदनादि होते हैं वे रुक जाते हैं। और श्री जिनमंदिर जाकर प्रभुभक्ति के निमित्त अपने समय और द्रव्य का सदुपयोग करने वाले पुण्यवान आत्माओं की टीका और निन्दा करना ही बाकी रहता है: इससे क्लिष्ट कर्म की उपार्जना तथा बोधि दुर्लभतादि महान् दोषों की प्राप्ति होती है।

६. मूर्ति को नहीं मानने से श्री जैनसंघ की एकता को बड़ा आघात होता है तथा एक ही धर्म के माननेवाले व्यक्तियों में धर्म के निमित्त फूट के बीज का बीजारोपण होता है जिससे अन्य लोगों में भी जैन धर्म की हँसी होती है। प्रवचन की मलीनता करवाना, महान् दोष है। इतना ही नहीं पर इससे जैन धर्म के प्रति जैनेतरों का जो आकर्षण है वह भी स्वाभाविक रूप से कम हो जाता है।

प्रतिमा पूजन से होने वाले लाभ :

अब श्री जिन प्रतिमा की पूजा से होने वाले लाभों की भी थोड़ी गिनती करलें।

१. सदा पूजा करने वाला व्यक्ति पाप से डरता है तथा पर-स्त्रीगमन आदि अनीतिपूर्ण अपकृत्य करने के संस्कार इसकी आत्मा में से धीरे धीरे नष्ट होते हैं।

२. कुछ समय प्रभु के गुणगान करने का अवसर निरन्तर प्राप्त होता है और इससे थोड़ी बहुत अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

३. सदा पूजा करने वाले का थोड़ा बहुत द्रव्य भी प्रति-दिन शुभ क्षेत्र में खर्च होता है जिससे पुण्यबंध होता है।

४. अनीति, अन्याय और आरम्भ से उपार्जित द्रव्य भी यदि अनीति के त्याग की भावना से तथा पश्चाताप पूर्वक मन्दिर बनवाने के काम में लगाया जाय तो इससे दुर्गति रुकती है। मन्दिर आदि बँधवाने से लाखों लोग इसका लाभ लेते हैं।

धन का लाभ तथा व्यय-दोनों ही कर्म बंध का कारण होते हुए भी मन्दिर आदि बनवाने में इसका उपयोग होने से वह कर्म निर्जरा का कारण बन जाता है।

५. सदा प्रतिमा की पूजा करने से तीर्थयात्रा करने की शुभ भावना रहती है। तीर्थ यात्रा करने से चित्त की निर्मलता, शरीर की निरोगता और दान, शील तथा तप की वृद्धि आदि महान लाभ प्राप्त होते हैं।

६. बीमारी वगैरह में सेवा-पूजा नहीं भी हो सके तो भी भावना सेवा पूजा की ही रहती है और ऐसी दशा में कभी मृत्यु भी हो जाय तो भी जीव की शुभ गति होती है।

७. गृहस्थों के आत्मकल्याण के लिये मंदिर और मूर्ति मुख्य साधन हैं। सुविहित शिरोमणि आचार्य भगवान् श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज फरमाते हैं कि "आरंभ में आसक्त बने हुए, छः काय जीव के वध से नहीं बचे हुए एवं भवसागर में भटकते गृहस्थों के लिये निश्चित रूप से द्रव्यस्तव ही आलंबनभूत है। इन सब लाभों का विचार करके और कुछ नहीं भी बन सके तो भी श्री जिनेश्वरदेव की प्रतिमा के पूजन के लिये तो प्रत्येक कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को तत्पर रहना ही चाहिये। इस मानव जन्म में श्री जिनपूजा की पवित्र एवं कल्याणकारी प्रवृत्ति के आचरण में किंचित् भी प्रमाद करना विवेकी लोगों के लिये उचित नहीं।

श्री जिन प्रतिमा और उसकी पूजा के अगणित लाभों को समझने के लिये शास्त्रों में बहुत विवेचन है तब भी मंदबुद्धि वाले लोगों को नीचे के प्रश्नोत्तरात्मक विवेचन से भी बहुत लाभ होना संभव है इसलिये उसे बारंबार पढ़ने और विचारने की अभिशंषा की जाती है।

मंगल-कामना

"नेत्रानन्दकरी भवोदधितरी श्रेयस्तरोर्मञ्जरी,
श्रीमद्धर्ममहानरेन्द्रनगरी, व्यापल्लताधूमरी ।
हर्षोत्कर्षशुभप्रभावलहरी, रागद्विषां जित्वरी,
मूर्तिः श्री जिनपुङ्गवस्य,भवतु,श्रेयस्करी देहिनाम् ।।१।।

श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति,

भक्तजनों के नेत्रों को आनंद पहुँचानेवाली है, संसार रूपी सागर को पार करने के लिये नाव समान है, कल्याणरूपी वृक्ष की मंजरी जैसी है, धर्म रूप महा नरेन्द्र की नगरी तुल्य है, नाना प्रकार की आपत्ति रूपी लताओं का नाश करने के लिये धूमरी-धूमस जैसी है, हर्ष के उत्कर्ष के शुभ प्रभाव का विस्तार करने में लहरों का काम करने वाली और राग तथा द्वेष रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराने वाली है, ऐसी

श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति

जगत् के जीवों का कल्याण करने वाली बनो !

★

प्रतिमा-पूजन ४

प्रतिमा-पूजन की शास्त्रीयता, वैज्ञानिकता तथा बुद्धिगम्यता को सिद्ध करने वाली प्रश्नोत्तरी

१. प्रश्न—चार निक्षेपों के नाम और उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—श्री अनुयोग द्वार सूत्र में शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि :—

"जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थ वि य न जाणेज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥१॥"

जहां जिस वस्तु में जितने निक्षेपा ज्ञात हों वहाँ उस वस्तु में उतने निक्षेपा करना और जहाँ जिस वस्तु में अधिक निक्षेपा मालूम नहीं हो सकें वहाँ उस वस्तु में कम से कम चार निक्षेपा तो अवश्य करने चाहिए। तात्पर्य यह है कि जगत् के तमाम द्रव्य, नौ तत्त्व, पांच परमेष्ठि तथा नौ पद, इन सभी में कम से कम चार निक्षेपा तो अवश्य उतारे जा सकते हैं।

किसी भी वस्तु का स्वरूप जानने के लिये सामान्य रूप से कम से कम चार निक्षेपा तो अवश्य किये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१. **नाम निक्षेपा**—वस्तु के आकार एवं गुण से रहित नाम, वे नाम निक्षेपा कहलाते हैं।

२. **स्थापना निक्षेपा**—वस्तु के नाम तथा आकार सहित परन्तु गुण रहित, वे स्थापना निक्षेपा कहलाते हैं।

३. **द्रव्य निक्षेपा**—वस्तु के नाम और आकार तथा अतीत और अनागत गुण सहित परन्तु वर्तमान गुण रहित वे द्रव्य निक्षेपा कहलाते हैं।

४. **भाव निक्षेपा**—वस्तु के नाम, आकार और वर्तमान गुण सहित, वे भाव निक्षेपा कहलाते हैं।

उदाहरण स्वरूप—श्री जिनेश्वर देवों के **'महावीर'** आदि नाम, वे **नाम जिन :** उन तारकों की प्रतिमा, वे **स्थापनाजिन :** जिन-नाम-कर्म बाँधा हो ऐसे श्री जिनेश्वर देव के जीव, वे **द्रव्यजिन :** और समवसरण में धर्मोपदेश देने के लिए विराजमान सक्षात् श्री जिनेश्वर देव, वे **भावजिन कहलाते हैं।** इस प्रकार श्री जिनेश्वर देव के चार निक्षेपा समझना।

इन चार निक्षेपों के अभाव में किसी भी वस्तु का वस्तुपन सिद्ध नहीं हो सकता। जगत् में शश-शृंग नहीं तो उसका वाचक शुद्ध शब्द भी नहीं कि जिस शब्द के द्वारा उसका बोध हो सके। जिसका नाम नहीं होता उसकी आकृति भी किसी प्रकार बन नहीं सकती कि जिसको देखने से शश-शृंग का बोध हो। जिसका नाम अथवा आकार दोनों नहीं होते उसकी पूर्वापर अवस्था और वर्तमान अवस्था रूप पर्याय के आधारभूत द्रव्य भी नहीं होते और जहाँ 'नाम, स्थापना अथवा द्रव्य' तीनों का अभाव होता है वहाँ वस्तु का भाव या गुण तो हो ही कैसे सकता है?

इसलिए नामादि निक्षेपा विहीन किसी पदार्थ का इस जगत् में अस्तित्व होता ही नहीं। अतः द्रव्यादिक तीनों निक्षेपों को माने बिना केवल भाव निक्षेपों को मानने की बात शश-श्रृंगवत् कल्पित है। जिसका नाम उसी की स्थापना, जिसकी स्थापना उसी का द्रव्य और जिसका द्रव्य उसी का भाव। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में चारों निक्षेपा एक साथ रहे हुए हैं।

२. प्रश्न—प्रत्येक निक्षेपा का विस्तार पूर्वक स्वरूप क्या है?

उत्तर--किसी भी वस्तु को पहचानने के लिए सर्व प्रथम उसका नाम जानने की आवश्यकता होती है, यह नाम निक्षेपा। नाम जान लेने के पश्चात् उसी वस्तु की विशेष पहचान के लिए उसकी आकृति, आकार अथवा स्थापना जानने की जरूरत होती है, यह स्थापना निक्षेपा। उसी वस्तु के संबंध में उससे भी अधिक ज्ञान प्राप्त करना हो तो उसके गुण दोष बताने वाली उसकी आगे-पीछे की अवस्था का निरीक्षण करना पड़ता है, उसको द्रव्य निक्षेपा कहा जाता है तथा इन तीनों निक्षेपों के स्वरूप का प्रत्यक्ष बोध कराने वाली साक्षात् जो वस्तु है, उसे भाव निक्षेपा माना जाता है। भाव निक्षेपा का यथार्थ ज्ञान करने के लिये प्रथम के तीनों निक्षेपों के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

जंगल में अमूल्य वनस्पतियाँ होते हुए भी जिनके नाम तथा आकारादि का ज्ञान नहीं होता है तो उनके गुणों का भी ज्ञान नहीं हो सकता है। नामादि तीनों निक्षेपा के ज्ञान विहीन आत्मा के लिए भाव निक्षेपा को विपरीत रूप से ग्रहण करने की अधिक सम्भावना है। जिस बालक को सोमल अथवा सर्प आदि विषमय वस्तु के नाम, आकार आदि का ज्ञान नहीं

होता ऐसा अज्ञानी बालक साक्षात् सोमल या सर्प वगैरह से बच नहीं सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि भाव का साक्षात् ज्ञान कराने वाला अकेला भाव नहीं पर उसका नाम, आकार तथा पूर्वापर अवस्था, ये सब मिलकर ही किसी भी पदार्थ के भाव का निश्चित बोध कराते हैं।

केवल भाव निक्षेपा को मानकर जो नाम आदि निक्षेपों को मानने से इन्कार करते हैं उन्हें कोई दुष्ट व्यक्ति उनके पूज्य या प्रिय व्यक्ति का नाम लेकर निंदा करे, गाली दे या तिरस्कार करे तो क्या उनको क्रोध नहीं आता? अथवा उसी पूज्य या प्रिय व्यक्ति के नाम से उनकी तारीफ करे तो क्या खुशी नहीं होती? अवश्य होती है। अतः नाम निक्षेपा व्यर्थ है, ऐसा कहने वाला मिथ्याभाषी ही है।

इसी प्रकार अपने पूज्य आदि के चित्र को किसी दुराचारी स्त्री के साथ रखकर उस पर से कुचेष्टा वाला चित्र लेकर कोई नालायक व्यक्ति स्थान-स्थान पर उसकी अपकीर्ति करे तो इससे मूर्ति को नहीं मानने वालों को भी क्या क्रोध नहीं आता? अवश्य आता है। अर्थात् स्थापना निक्षेपा भी व्यर्थ है, यह बात गलत है।

नाम और स्थापना को भाँति ही अपने पूज्य आदि की पूर्वापर अवस्था की बुराई या भलाई सुनने से क्रोध या आनन्द पैदा होता है और पूज्य के लिये साक्षात् अपकीर्ति और अपशब्द सुनने पर भी इनके चाहने वालों को अवश्य दुःख होता है तथा प्रशंसा सुनने पर सुख की प्राप्ति होती है। इससे यह स्पष्ट है कि चारों निक्षेपों में भिन्न २ प्रभाव उपजाने की शक्ति प्रकट रूप से समाविष्ट हुई है।

१. नाम निक्षेपा

किसी भी वस्तु के सांकेतिक नाम के उच्चारण से उस वस्तु का वोध कराना प्रथम नाम निक्षेपा का विषय है। श्री ऋषभादिक चौबीस तीर्थंकरों के नाम उनके माता पिता ने जन्म समय पर रखे होते हैं। इसमें कारण, उनके गुण नहीं किन्तु केवल पहचानने का संकेत है। नाम रखने में यदि गुण ही कारण होता तो सभी तीर्थंकर समान गुणवाले होने के कारण सभी का एक ही नाम रखना चाहिये था।

समान गुण वालों के भिन्न नाम तो तभी हो सकते हैं जब नाम रखते समय गुण की अपेक्षा आकार आदि की भिन्नता पर भी लक्ष्य दिया जाय। चौबीस तीर्थंकरों के गुण समान होते हुए भी प्रत्येक के आकार, पूर्वापर अवस्था आदि में भिन्नता थी। उसी प्रकार एक ही नाम की जहाँ अनेक वस्तुएँ होती हैं वहाँ भी नाम द्वारा जिस वस्तु विशेष का बोध होता है उसका कारण भी उस वस्तु में रहने वाली गुण, आकार आदि की भिन्नता है। जैसे 'हरि' यह दो अक्षर का नाम है पर उससे अनेक वस्तुओं का संकेत होता। 'हरि' शब्द कहते ही 'कृष्ण, सूर्य, बन्दर, सिंह और घोड़ा' आदि अनेक शब्दों का बोध होना शक्य होने पर भी ऐसा नहीं होकर केवल कृष्ण का ही बोध होता है। इसका कारण उस शब्द को बोलने वाले का अभिप्राय कृष्ण ही कहने का है। इसी प्रकार सूर्य के ध्येय से 'हरि' शब्द बोलने से केवल सूर्य का ज्ञान होता है पर कृष्णादि अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता।

इससे यह सिद्ध होता है कि अनेक संकेत वाले एक नाम में भिन्न २ संकेतों को बोध कराने की जो शक्ति है उसका कारण

अकेला नाम निक्षेपा नहीं पर उन नामों के साथ अन्य सभी निक्षेपों का होने वाला बोध है। दूसरा उदाहरण 'कोट' शब्द का लेते हैं। 'कोट' शब्द से पहनने का वस्त्र, नगर की परिक्रमा करती चार दीवारी, शरीर की गर्दन आदि अनेक अर्थों का बोध होता है। परन्तु जब वस्त्र के उद्देश्य से कोट शब्द का प्रयोग होता है तब पीछे के दोनों अर्थों का बोध नहीं होता। इसी प्रकार गढ़ के हेतु से 'कोट' शब्द का प्रयोग करते समय वस्त्र आदि का ज्ञान नहीं होता तथा गर्दन के उद्देश्य से 'कोट' शब्द का प्रयोग करते गढ़ आदि का ज्ञान नहीं होता इसका कारण उन तीनों वस्तुओं के चारों भिन्न निक्षेपा होने के अतिरिक्त क्या है?

यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि बाकी के तीन निक्षेपा उन्हीं के वंदनीय एवं पूजनीय हैं जिनके भाव निक्षेपा वंदनीय और पूजनीय हैं। और इसी कारण **श्री भगवती, श्री उववाई** और **श्री रायपसेणि** आदि सूत्रों में श्री तीर्थंकर देव तथा अन्य ज्ञानी महर्षियों के नाम निक्षेपा भी वंदनीय हैं, ऐसा कहा गया है।

उन उन स्थानों पर कहा गया है कि—

"तथा रूप श्री अरिहंत भगवंतों का नाम गोत्र भी सुनने से वास्तव में महाफल होता है।"

नाम निक्षेपा का महत्व बताने के लिये श्री ठाणांग सूत्र के चौथे और दसवें ठाणा में भी कहा गया है कि—

"चउव्विहे सच्चे पन्नत्ते, तं जहा-नाम सच्चे,

ठवरासच्चे, दव्वसच्चे भावसच्चे। तथा दसविहे सच्चे पन्नत्ते ते जहा—

"जरावयसम्मयठवरा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहारभावजोगे, दसमे उवम्मसच्चे अ ॥१॥"

चार प्रकार के सत्य बताये गये हैं :—नाम सत्य, स्थापना सत्य, द्रव्य सत्य और भाव सत्य तथा श्री तीर्थंकर देवों ने दस प्रकार के सत्य बतलाये हैं। जनपदसत्य, सम्मतसत्य, स्थापना-सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योग सत्य और उपमासत्य।

इस प्रकार दो चार अक्षरों के नाम की सत्यता और उससे भी महान फल की सिद्धि होती है, ऐसा शास्त्रकार महापुरुषों ने स्थान स्थान पर प्रतिपादित किया है, तो फिर श्री वीत-रागदेव के स्वरूप का भान कराने वाली शान्त आकार वाली भव्य मूर्ति के दर्शन-पूजन आदि से अनेक गुणवाला अधिक फलदाता सिद्ध हो तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

'जनपद' सत्य—पानी को किसी देश में पय, किसी में पीच्च, किसी में उदक और किसी में जल कहते हैं, यह जनपद सत्य है।

'सम्मत' सत्य—कुमुद, कुवलय आदि पुष्प भी कमल से उत्पन्न होते हैं फिर भी पंकज शब्द अरविंद कुसुम को ही सम्मत है, यह सम्मत सत्य है।

'स्थापना' सत्य—लेप आदि के विषय में अरिहंत प्रतिमा, एक आदि अंक विन्यास और कार्षापण आदि के विषय में मुद्राविन्यास आदि, ये सब स्थापना सत्य है।

'नाम' सत्य—कुल की वृद्धि न करता हो तो भी 'कुलवर्धन' आदि नाम, यह नाम सत्य है।

'रूप' सत्य—व्रत का आचरण न करता हो और केवल लिंग मात्र से व्रती कहलाये, यह रूप सत्य है।

'प्रतीत्य' सत्य—अनामिका अंगुली कनिष्ठा के संबन्ध से दोर्घ और मध्यमा के संबन्ध से लघु कहलाती है, यह प्रतीत्य सत्य है।

'व्यवहार' सत्य—पर्वत पर घास आदि जलने पर भी यह कहना कि 'पर्वत जलता है', पानी जमने पर यह कहना कि 'घड़ा जमता है' तथा उदर होते हुए भी यह कहना कि 'अनुदरा कन्या'—ये सब व्यवहार सत्य है।

भाव सत्य—बगुला सफेद है और भ्रमर श्याम है, ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो उन दोनों में पाँचों वर्ण है, फिर भी वर्ण की उत्कटता के कारण बगुला सफेद व भ्रमर श्याम कहलाता है, यह भाव सत्य है।

'योग' सत्य—दंड के योग से दंडी, छत्र के योग से छत्री आदि कथन, योग सत्य है।

'उपमा' सत्य—समुद्र के समान तालाब आदि का कथन, उपमा सत्य है।

२. स्थापना निक्षेपा

जिस वस्तु का नाम मात्र सुनकर उसका बोध और भक्ति होना संभव है, तो वस्तु की आकृति अथवा जिसमें नाम के उपरांत आकार है उससे अधिक बोध और भक्ति कैसे नहीं होगी ? और उसे करने के लिये कौन इच्छा नहीं करेगा ? नाम निक्षेपा जिस प्रकार शास्त्र सिद्ध है उसी प्रकार स्थापना निक्षेपा भी अनेक शास्त्रों से सिद्ध है।

श्री अनुयोगद्वार सूत्र में दस प्रकार से स्थापना का स्थापन करने को कहा गया है। १ काष्ट में, २ चित्र में, ३ पुस्तक में, ४ लेपकर्म में, ५ गुंथन में, ६ वेष्टन क्रिया में, ७ धातु का रस डालने में, ८ अनेक मणियों के संघात में, ९ शुभाकार पाषाण में और १० छोटे शंख में।

इन दस प्रकारों में से किसी भी प्रकार में क्रिया तथा क्रिया-वान् पुरुष का अभेद मानकर, हाथ जोड़े हुए तथा ध्यान लगाये हुए आवश्यक क्रिया सहित साधु की आकृति के रूप में अथवा आकृति रहित स्थापना करना अथवा आवश्यक सूत्र का पाठ लिखना, यह स्थापना आवश्यक कहलाता है।

हाथ जोड़कर तथा ध्यान लगाकर क्रिया करने वाले का रूप यदि सद्भाव स्थापना है तो पद्मासनयुक्त, ध्यानारूढ़, मौनाकृति, श्री जिनमुद्रासूचक प्रतिमा स्थापनाजिन कैसे नहीं कहलाये ? यदि प्रतिमा स्थापनाजिन नहीं तो पूर्वोक्तस्वरूप आवश्यक भी स्थापना आवश्यक नहीं कहलायगा और ऐसा करने से श्री अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ का अपलाप कैसे नहीं होगा ? सूत्र के पाठ का लोप अथवा अपलाप जिसको नहीं करना

हो उसे तो श्री जिनस्वरूप प्रतिमा को 'स्थापना'-जिन के रूप में नि:सन्देह स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यदि स्थापना को निरर्थक माना जाय तो जैन धर्म के सभी सूत्र-सिद्धान्त भी व्यर्थ बन जाते हैं क्योंकि वे भी श्री वीतराग देव के अरूपी ज्ञान के अंश रूपी अक्षरों की स्थापना ही है और यदि सूत्र-सिद्धान्तों का लोप होता है तो जैन धर्म का ही लोप हो जाता है। जिनको धर्म का लोपक नहीं बनना हैं वे स्थापना की उपेक्षा किसी प्रकार नहीं कर सकते।

जिस प्रकार नाम के साथ चार निक्षेपा जुड़े हुए हैं उसी प्रकार स्थापना के साथ भी चार निक्षेपा जुड़े हुए हैं। यदि ऐसा न हो तो कुत्ते का चित्र देखते बिल्ली का ज्ञान हो जाना चाहिये और बिल्ली का चित्र देखने पर कुत्ते का ज्ञान होना चाहिये। परन्तु कुत्ते का चित्र देखकर कुत्ते का ही ज्ञान होता है और किसी का नहीं क्योंकि चित्र देखते ही कुत्ते के चार निक्षेपा का ज्ञान होता है। जिसका चित्र देखने में आता है उसके चार निक्षेपा मन में स्पष्ट हो जाते हैं।

यदि ऐसा नहीं होता तो भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा देखने पर श्री पार्श्वनाथ प्रभु का स्मरण हो जाना चाहिये क्योंकि दोनों के भाव निक्षेपा समान हैं। भाव निक्षेपा समान होते हुए भी एक तीर्थंकर की मूर्ति देखने से अन्य तीर्थंकरों का बोध नहीं होता, इसका कारण मूर्ति के साथ जुड़े हुए अन्य निक्षेपा हैं। निक्षेपों का विषय यदि व्यर्थ है तो एक 'कुमुदचन्द्र का नाम लेने या उसकी मूर्ति देखते समय जितने 'कुमुदचन्द्र' हों, उन सबका ज्ञान उस समय होना चाहिये पर ऐसा नहीं होता परन्तु केवल एक का ही ज्ञान होता है। अर्थात्

एक नाम या एक मूर्ति वाले भिन्न भिन्न पुरुष के चार चार निक्षेपा भी भिन्न भिन्न है, यह बात सिद्ध होती है ।

जैसे कि किसी के गुरु का नाम श्री 'रामचन्द्र' है और उस नाम के संसार में लाखों पुरुष विद्यमान हैं । गुरु के नाम वाले 'रामचन्द्र' ऐसे अक्षरों में गुरु के आकार का तो कोई भी चिन्ह है ही नहीं तो फिर नाम मात्र से उस नाम के हजारों, लाखों पुरुषों में से किसका स्मरण और किसको नमस्कार सिद्ध होगा ? यदि कहोगे कि 'रामचन्द्र' शब्द से मात्र गुरु का ही स्मरण और गुरु को ही नमस्कार हुआ पर अन्य को नहीं तो कहना ही पड़ेगा कि—'रामचन्द्र' नाम के दूसरे सभी पुरुषों को नमस्कार नहीं करने के लिये और केवल श्री 'रामचन्द्र' नाम के अपने गुरु को ही नमस्कार करने के लिये गुरु की आकृति आदि को मन में स्थापित की हुई ही होगी । इस प्रकार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्थापनादि निक्षेपा स्वाभाविक रूप से गले में पड़ ही जाते हैं ।

यहाँ यदि ऐसी शंका हो कि, स्थापना निर्जीव होने से कार्य साधक और पूजनीय कैसे बन सकती है ? तो इसका समाधान यह है कि निर्जीव वस्तुमात्र यदि निरर्थक और अपूजनीय हो तो **श्री समवायांग**, **श्री दशाश्रुतस्कंध** तथा **श्री दशवैकालिक** आदि सूत्रों में फरमाया है कि गुरु के पाट, पीठ, संथारा आदि वस्तुओं को पैर की ठोकर लग जाय तो भी शिष्य को गुरु की आशातना का दोष लगता है । गुरु के पाट वगैरे तो निर्जीव ही हैं ।

पूर्वोक्त वस्तुएँ निर्जीव होते हुए भी गुरुओं की स्थापना होने के नाते उनका अविनय करने से शिष्य को आशातना

लगती है और विनय करने से भक्ति एवं शुभ फल की प्राप्ति होती है। इसी भाँति श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति श्री जिनेश्वर देव की ही स्थापना होने से उसकी आशातना या उसका विनय करने से शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है। श्री जैन शासन में विनय को ही मुख्य गुण माना गया है। उस गुण के पालन के लिए श्री जिनेश्वरदेव की स्थापना स्वरूप मूर्ति की भक्ति आदि करना भी जैन धर्म में मुख्य वस्तु गिनी जाती है।

यहाँ तक कि साधुओं के वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण और मुहपत्ति आदि उपकरण निर्जीव होते हुए भी उनके द्वारा चारित्र गुण की साधना हो सकती है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है कि लकड़ी के घोड़े से खेलते हुए बालक को दूर हटाने के लिये कोई साधु उसे ऐसा कहे कि "हे बालक! तेरी लकड़ी हटा," तो मुनि को असत्य बोलने का दोष लगता है। इस दोष से बचने के लिये साधु को ऐसा ही कहना चाहिये कि—'हे बालक, तुम्हारा घोड़ा हटाओ' लकड़ी में कोई साक्षात् घोड़ापन तो है ही नहीं; केवल उसकी असद्भूत स्थापना है तब भी उसे मानना जरूरी है, तो श्री जिन प्रतिमा को, जो श्री जिनेश्वरदेवों की सद्भूत स्थापना है, उसे माने बिना कैसे चल सकता हैं?

शक्कर के खिलौने जैसे हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, गाय, मनुष्य आदि खाने से पंचेन्द्रिय की हत्या करने का पाप लगता है, ऐसा दया धर्म को समझने वाले सभी मानते हैं। वे सभी वस्तुएँ निर्जीव हैं फिर भी उनमें जीव की स्थापना होने से ही उनको खाने का निषेध किया गया है। इसके सिवाय दूसरा कोई भी कारण ज्ञात नहीं होता।

दीवार पर चित्रित स्त्री की आकृति विकार का हेतु होने से साधु को उसे नहीं देखना चाहिये। ऐसा जो निषेध किया गया है उससे भी यह सिद्ध होता है कि 'निर्जीव वस्तुएँ असर करने वाली होती है!

स्थापना निर्जीव होने पर भी उसके प्रभाव को जानने के लिये निम्न दृष्टांत विश्व विख्यात हैं:—

१. अपने पति के चित्र को देखकर पतिव्रता स्त्री खूब प्रसन्न होती है; परन्तु उसमें कभी द्वेष की भावना दिखाई नहीं देती है।

२. प्रजावत्सल राजाओं के पुतले देखकर वफादार प्रजा नाराज़ नहीं होकर प्रसन्न ही होती है और इसी कारण ऐसे राजा महाराजाओं के तथा महान पराक्रमी पुरुषों के पुतले उनकी यादगार में बने हुए स्थान २ पर नजर आते हैं।

३. परदेशवासी अपने स्वजन आदि के हस्ताक्षर वाले पत्र को देखकर भी अपने हितैषियों के स्नेह मिलन जैसा संतोष अनुभव करते हैं।

४. अपने ज्येष्ठ तथा इष्टमित्रों की तस्वीर देखकर उनके उपकार और गुणों का स्मरण हो आता है और हृदय प्रेम से पुलकित हो जाता है।

५. कामशास्त्र में स्त्री पुरुषों के विषय सेवन के चौरासी आसन आदि देखने से कामीजनों को तुरन्त काम विकार उत्पन्न होता है।

६. योगासन की विचित्राकार स्थापना देखने से योगी पुरुषों की बुद्धि योगाभ्यास में प्रीति को धारण करने वाली होती है।

७. भूगोल का अभ्यास करने वाले नक्शादि देखकर विश्व की अनेक वस्तुओं का ज्ञान आसानी से कर सकते है।

८. शास्त्र संबंधी अक्षरों की स्थापना से उनको देखने वाले मनुष्य को तमाम शास्त्रों का ज्ञान भी हो जाता है।

९. खेतों में पुरुषों की आकृति खड़ी करने से वह आकृति निर्जीव होते हुए भी उसके द्वारा खेत की रक्षा अच्छी तरह से हो सकती है।

१०. लोगों में कहावत है कि "अशोक वृक्ष की छाया चिंता" को दूर करती है, "चंडाल पुरुषों की अथवा रजस्वला स्त्रियों की छाया अशुभ असर करती है" और "गर्भवती स्त्री की छाया" का उल्लंघन करने से योगी पुरुषों का पुरुषार्थ नष्ट होता है—यह विज्ञान सिद्ध है।

११ सती स्त्री का पति परदेश गया हो तब वह स्त्री अपने पति की तस्वीर का रोज दर्शन कर संतोष प्राप्त करती है। श्री रामचन्द्रजी वनवास गये तब उनके भाई भरत महाराजा, राम को पादुका को राम की तरह ही पूजते थे। सीताजी भी राम की अंगूठी को हृदय से लगा कर राम के साक्षात् मिलन का आनंद अनुभव करती थी। हनुमान द्वारा लाए हुए सीता के आभूषणों को देख कर रामचन्द्रजो भी अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

श्री पांडव चरित्र में भी कहा गया है कि 'द्रोणाचार्य की प्रतिमा स्थापन करके उनके पास से एकलव्य नाम के भील ने अर्जुन जैसी धनुष विद्या सिद्ध की थी।

ऊपर के कितने ही दृष्टांत ऐसे हैं जिनमें शरीर का विशेष आकार भी नहीं है, ऐसी निर्जीव वस्तुओं से भी सन्तोष का अनुभव

प्राप्त होता हुआ देखा जा सकता है तो फिर साक्षात् परमात्मा के स्वरूप का बोध कराने वाली, प्रभु प्रतिमा जिसमें पूर्ण आनन्द ही है, वह मोक्ष का कारण क्यों न बने ? शांत मुद्रावाली श्री वीतराग परमात्मा की प्रतिमा की, उनके नाम-ग्रहण पूर्वक की गई पूजा प्रभु को अवश्य प्राप्त करवा देती हैं।

सेवक जैसे अपने स्वामो की मूर्ति द्वारा स्वामी की पूजा करके उसके द्वारा अपना कार्य सिद्ध करता है; वैसे ही परमात्मा की मूर्ति द्वारा परमात्मा की पूजा करने से पूजक भी महान् लाभ को अवश्य प्राप्त कर सकता है। इसी कारण महापुरुषों ने श्री अरिहंत परमात्मा आदि के चारों निक्षेपाओं संसारी जीवों के लिये परम उपकारी और अत्यंत लाभदायक बताये हैं। जिस वस्तु के भाव निक्षेपों पर लोगों को संपूर्ण आदर हो उनके नाम, स्थापना तथा गुण समूह के स्मरण, दर्शन या श्रवण से अवश्य उस वस्तु के प्रति प्रेम और आदर में वृद्धि होती है।

जिस पर प्यार है उसके नाम, मूर्ति या गुण को मान देने से साक्षात् वस्तु को ही मान और आदर देने का अनुभव होता है।

किसी धनवान पिता ने परदेश से अपने पुत्र को पत्र द्वारा सूचना दी कि—'अमुक व्यक्ति को पाँच हजार रुपये दे देना' अब वह पुत्र उस पत्र को पिता का साक्षात् आदेश रूप मानकर उस पर अमल करे या नहीं ? करे, ऐसा ही कहोगे तो वह आदेश पत्र में स्थापना रूप होने से, स्थापना मानने लायक सिद्ध हो गई। यदि कहोगे कि 'पत्र मात्र से इस बात पर अमल नहीं करना' तो ऐसा करने वाले पुत्र के लिये क्या कहा जायगा। उसने पिता की आज्ञा का पालन किया या उल्लंघन

किया ? पालन नहीं, परन्तु उल्लंघन ही कहा जायगा। इस दृष्टि से श्री तीर्थंकर-गणधर-प्रणीत सूत्रों में प्रतिपादित स्थापना निक्षेपा को मानने वाला स्वयं भगवान् का ही आदर करने वाला बनता है तथा नहीं मानने वाला स्वयं भगवान् का ही अपमान करने वाला बनता है इसमें लेशमात्र भी आश्चर्य नहीं है।

अपने पूर्वजों के चित्र तथा फोटो, आदि उनके संपूर्ण स्वरूप का बोध कराने वाले होने से उनके भाव निक्षेपा की ओर आकर्षित करते हैं, इसमें कोई शंका नहीं है। पर बड़े व्यक्तियों के पूर्णस्वरूप का बोध नहीं कराने वाले उनके वस्त्र, आभूषण एवं पोषाक आदि देखने से भी उनके गुण याद हो आते हैं। यदि निर्जीव रूप स्थापना निक्षेपा सर्वथा निरर्थक होते तो पूर्वोक्त कार्यों में जिस प्रकार के भिन्न भिन्न भाव आते हैं वे नहीं आने चाहिये।

इस पर से सोचना चाहिये कि परम पूजनीय, परमोपकारी, आराध्यतम, अनंतज्ञानी, देवाधिदेव श्री तीर्थंकर भगवान् की शांत, निर्विकार और ध्यानारूढ़ भव्यमूर्ति के दर्शन से श्री वीतरागदेव के गुणों का स्मरण अवश्य होता ही है तथा उनकी उस मूर्ति को मान देकर; हम उनका विनय करते हैं—ऐसा अवश्य कहा जाता है। इतना ही नहीं पर उनकी मूर्ति के बारबार दर्शन, पूजन और सेवन से उनके भाव निक्षेपा ऊपर का आदर और प्रेम दिन प्रति दिन अवश्य बढ़ता जाता है।

यदि वस्तु के भाव निक्षेपा पर प्यार हो तो उसकी स्थापना आदि पर भी प्यार आता है। इसी तरह जिनके भाव निक्षेपा

पर द्वेष हो उनके नाम, स्थापना आदि चारों निक्षेपा पर भी द्वेषबुद्धि आती है। साक्षात् शत्रु को देखकर जैसे वैरभाव पैदा होता है वैसे ही उसकी मूर्ति को देखकर या नाम आदि सुनने से भी द्वेष भाव अवश्य प्रकट होता है।

जो तीर्थंकरों के भाव निक्षेपा पर भक्ति रखते हैं तथा उनकी मूर्ति पर द्वेष—उनसे पूछे कि तुम्हारी मान्यता के अनुसार तो तुम्हारे मित्र आदि को साक्षात् देखकर तो तुम्हें प्रेम होना चाहिये परन्तु उनकी मूर्ति तथा नाम आदि देखकर और सुनकर प्रेम नहीं होना चाहिये पर द्वेष पैदा होना चाहिये अथवा साक्षात् शत्रु से मुलाकात होते ही चित्त में क्रोधाग्नि प्रकट होनी चाहिये परन्तु उसकी स्थापना तथा नाम से द्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिए किंतु आनंद उत्पन्न होना चाहिये। पर ऐसा विपरीत क्रम किसी भी स्थान पर देखने में नहीं आता।

कभी ऐसा कहा जाय कि—शत्रु एवं मित्र दोनों में समभाव रखना चाहिये किंतु रागद्वेष नहीं करना चाहिये परन्तु ऐसा कथन केवल कहने मात्र का है। बड़े बड़े योगीश्वर भी जहाँ तक घाती कर्मों के योग से मुक्त नहीं हो जाते तब तक राग द्वेष से पूर्णतया नहीं छूट सकते तो संसार के अनेक जंजालों के मोह में फँसे गृहस्थ रागद्वेष रहित समभाववाली अवस्था में रह सकते हैं,ऐसा कहना या मानना केवल वंचना मात्र है। एक ओर केवल श्री तीर्थंकरदेव के भाव निक्षेपा पर ही प्रेम रखने की बात करना तथा दूसरी ओर समभाव में रहने की बात करना इसमें प्रत्यक्ष मृषावाद है। भाव निक्षेपा पर राग परन्तु मूर्ति पर द्वेष, यह राग-द्वेष रहित स्थिति का लक्षण कैसे माना जा सकता है। एक निक्षेपा पर द्वेष रखने से दूसरे निक्षेपा पर भी द्वेष स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। स्थापना निक्षेपा पर द्वेष

रखकर भाव निक्षेपा पर प्रेम रखने की बात करना, यह आत्म-वंचना के सिवाय और कुछ नहीं है ।

नियम तो यह है कि जो व्यक्ति प्रत्यक्ष में विद्यमान न हो तो उस व्यक्ति पर शुद्ध भाव पैदा करने के लिये उसकी स्थापना की भक्ति को छोड़कर अन्य कोई सरल उपाय नहीं है। बिना स्थापना के अविद्यमान वस्तु के प्रति शुद्ध भाव प्रकट किया ही नहीं जा सकता। चारों निक्षेपों का इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा निक्षेपा रह ही नहीं सकता।

स्थापना का अनादर करने वाले से पूछा जाय कि—'वर्तमान में जो नोटों का चलन है ऐसे एक हजार रुपये का एक चैक अथवा ड्राफ्ट यदि तुम्हारे पास हो तो उसे तुम हजार रुपये मानते हो या कागज का टुकड़ा। यदि कहोगे कि 'हम तो उसे कागज के टुकड़े के समान मानते हैं तो उसे साधारण कागज के टुकड़े की तरह एक-दो पैसे में या मुफ्त में दूसरे को क्यों नहीं देते ? उसके उत्तर में कहोगे कि, 'ऐसा मूर्ख कौन होगा जो हजार रुपये को एक पैसे में या मुफ्त में दे दें ? तो फिर जरा मन के नेत्र खोलकर सोचना चाहिये कि जैसे एक हजार रुपये की अनुपस्थिति में उतनी रकम का काम एक चैक अथवा ड्राफ्ट से निकाला जा सकता है, वैसे श्री जिनेश्वर देव की अनुपस्थिति में उनकी मूर्ति द्वारा भी साक्षात् भगवान् को पूजने का फल अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।

३ द्रव्य निक्षेपों

जो वस्तु भूतकाल में अथवा भविष्यकाल में कार्य विशेष के कारण रूप में निश्चित हो उस, कारण भूत वस्तु में कार्य का आरोपण करना उसका नाम द्रव्य निक्षेपा है। जैसे मृत

साधु में तथा किसी साधु होने वाले गृहस्थ में, वर्तमान में, साधुपन न होते हुए भी साधुपन का आरोप कर उसको साधुत् कहा जाता है, यह द्रव्य निक्षेपा के आश्रय से साधुपन समझने का है। और इसी कारण साधु होने से पूर्व साधु होने वाले को द्रव्य साधु मानकर उसकी दीक्षा का महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है तथा साधु के मृत शरीर की दाह-क्रिया के समय पालकी में बिठाकर, पैसे उछालते हुए बड़े ठाट बाट से ले जाया जाता है और लोग भी इनके दर्शन के लिये दौड़ २ कर आते हैं।

श्री तीर्थंकर देवों को जन्म तथा निर्वाण के समय वंदन, नमस्कार करने का पाठ **जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति** आदि शास्त्रों में है तो वह नमस्कार श्री तीर्थंकर देव के द्रव्य निक्षेपा को हुआ गिना जाता है न कि भाव निक्षेपा को, क्योंकि जब तक केवलज्ञान नहीं हो तब तक भाव निक्षेपा नहीं कहलाता। भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी के जन्म समय शक्रेन्द्र के नमस्कार करने का उल्लेख श्री जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में बताया हुआ है तथा उसी सूत्र में कहा है कि शक्रेन्द्र ने श्री हरीणगमेषी देव के द्वारा अपने हित एवं सुख के लिये श्री तीर्थंकर देव का जन्म महोत्सव करने के लिये वहाँ जाने का अपना अभिप्राय देवताओं को बताया था।

यह सुनकर मन में प्रसन्न होकर कई देवता वंदन करने, कई पूजा करने, कई सत्कार करने, कई सम्मान करने, कई कौतुक देखने, कई जिनेश्वरदेव के प्रति भक्ति राग निमित्त, कई शकेन्द्र के वचन पालन के लिए कई मित्रों की प्रेरणा से, कई देवियों के कहने से, कई अपना आचार समझकर (जैसे कि—

सम्यग्‌दृष्टि देवों को श्री जिनेश्वरदेव के जन्म महोत्सव में अवश्य भाग लेना चाहिये) इत्यादि कारणों को अपने चित्त में स्थापन कर बहुत से देवी देवता शक्रेन्द्र के पास आये। यदि द्रव्य निक्षेपा अपूजनीय अथवा निरर्थक होता तो सूत्र में 'सुख के लिये तथा भक्ति के निमित्त' आदि शब्द वंदना के अधिकार में कदापि नहीं आते।

ऐसे ही श्री ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण के समय भी शक्रेन्द्र का आसन कंपायमान होने पर अवधिज्ञान से भगवान् का निर्वाण समय जानकर शक्रेन्द्र ने भगवान् को वंदन नमस्कार किया तथा सर्व सामग्री सहित श्री अष्टापद तीर्थ पर, जहाँ भगवान् का शरीर था, आकर उदासीनतापूर्वक अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्री तीर्थंकरदेव के शरीर को तीन प्रदक्षिणा दी, मृतक के योग्य सारी विधि की, इत्यादि शास्त्र प्रमाण भी द्रव्य निक्षेपा की वंदनीयता को ही सिद्ध करते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरी तरह से भी द्रव्य निक्षेपा और उसकी पूजनीयता की सिद्धि होती है। श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में तथा वर्तमान काल में आवश्यक क्रिया करते समय साधु-श्रावक तमाम चतुर्विशति स्तव (यानी लोगस्स सूत्र) का पाठ बोलते हैं।

श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में, शेष तेईस तीर्थंकरों के जीव चौरासी लाख जीवयोनि में भटकते थे इसलिये उनको उस समय किया हुआ नमस्कार भाव निक्षेपा से किया हुआ नहीं गिना जा सकता किन्तु द्रव्य निक्षेपा से ही किया हुआ गिना जाता है। वर्तमान काल में तो इनमें से एक भी भाव निक्षेपा में नहीं हैं क्योंकि सभी सिद्धगति में गये होने से भाव निक्षेपा में अरिहंत रूप में नहीं परन्तु सिद्ध रुप में ही बिराजमान हैं। जो

एक भाव निक्षेपा को मानकर दूसरे नाम, स्थापना व द्रव्य निक्षेपा को मानने का निषेध होता तो 'लोगस्स' द्वारा किसको नमस्कार किया जाय।

'लोगस्स में प्रकट रूप से 'अरिहंते कित्तइस्सं' और चउवीसंपि केवली' कहकर चौवीसों तीर्थंकरों को याद किया है। तीर्थंकरों का यह स्मरण भाव निक्षेपे से है ही नहीं, परंतु नाम तथा द्रव्य निक्षेपे से ही मानने का है। जो इन दो निक्षेपों को मानने को तैयार नहीं उनके मत से लोगस्स को मानने का रहता ही नहीं तथा लोगस्स नहीं मानने से आज्ञाभंग का महादोष लगे बिना भी नहीं रहता।

पुनः साधु-साध्वी के प्रतिक्रमणसूत्र में भी कहा है कि—

श्री ऋषभदेवस्वामी से श्री महावीरस्वामी तक चोवीसों तीर्थंकरों को नमस्कार हो।

इसमें भी इन नामों के तीर्थंकर भाव निक्षेपे से वर्तमान में कोई नहीं है, पर द्रव्य निक्षेपा से हैं। द्रव्य निक्षेपा नहीं मानने वाले को प्रतिक्रमण भी आवश्यक मानने का नहीं रहता और इससे भी आज्ञाभंग का महादोष लगता है।

भाव निक्षेपा का विषय अमूर्त होने से अतिशय ज्ञानियों के सिवाय अन्य कोई भी इसे साक्षात् पहचान या समझ नहीं सकते हैं। इसी कारण श्री जैन सिद्धान्त में संपूर्ण क्रियाओं का— 'नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र' इन चार द्रव्यप्रधान नयों की मुख्यता से ही वर्णन किया गया है। द्रव्य निक्षेपा की प्रधानतावाली क्रियाओं को यदि व्यर्थ माना जाता है तो जैन मत का लोप ही हो जाता है।

जैन सिद्धान्त को मानने वालों को द्रव्यार्थिक चार नयों को मान्य रखकर द्रव्य क्रिया का आदर करना उचित है। द्रव्य निक्षेपा की प्रधानतावाली क्रियाएँ परिणाम की धारा को बढ़ाने वाली हैं, जिससे भाव का परिपूर्ण निश्चय हुए बिना भी व्रत-पच्चक्खाण आदि करवाने की रोति श्री जैन शासन में चल रही है। श्री अनुयोग द्वार, श्री ठाणांग, श्री भगवतीजी तथा श्री सूत्रकृतांग आदि अनेक सूत्रों में द्रव्य निक्षेपा की सिद्धि की हुई है और इस बात को सप्रमाण साबित कर दिया है कि द्रव्य के बिना भाव कदापि संभव नहीं है।

परोपकारी महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने स्वोपज्ञवृत्ति सहित रचे हुए श्री 'प्रतिमाशतक' महाग्रन्थ में फरमाया है कि—

"नामादित्रयमेव भावभगवत्ताद्रूप्यधीकारणम् ।
शास्त्रात्स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः ।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां, भावं पुरस्कुर्वता,—
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः ॥१॥"

भाव भगवंत की तद्रूपपने की बुद्धि का कारण—'नाम, स्थापना और द्रव्य—ये तीन ही हैं। शुद्ध हृदयवालों को यह बात शास्त्र प्रमाण से तथा स्वानुभव के निश्चय से बारंबार प्रतीत हो चुकी है। इस कारण श्री अरिहंत परमात्मा की प्रतिमा का आदर किये बिना ही श्री अरिहंत परमात्मा के भाव को आगे बढ़ाने वालों की बुद्धि अंधे व्यक्तियों के दर्पण में देखने की की बुद्धि के समान, हास्यास्पद है।

इससे भी यह सिद्ध होता है कि भगवान् की भावावस्था

अतीन्द्रिय होने से इन्द्रियों तथा मन के लिये अगोचर है। उसे इन्द्रिय तथा मानस गोचर करने के लिये उनका नाम, आकार तथा द्रव्य का आलंबन यही एक साधन है। नाम, आकार और द्रव्य की भक्ति को छोड़कर केवल भाव की भक्ति करना या होना, यह असंभव है।

४ भाव निक्षेपों

जिन जिन नामवाली वस्तुओं में जो जो क्रियायें सिद्ध हैं उन उन क्रियाओं में वे वे वस्तुएं वर्तती हो तब वह भाव निक्षेपा कहलाता है—जैसे कि उपयोग सहित आवश्यक क्रिया में प्रवृत्त साधु, भाव निक्षेप से आवश्यक गिना जाता है। प्रत्येक वस्तु का स्वरूप इस प्रकार चारों निक्षेपों से जाना जा सकता है। उनमें से यदि एक भी निक्षेप अमान्य हो तो वह वस्तु, वस्तु के रूप में टिकती ही नहीं।

जिस वस्तु को जिस भाव से माना जाता है उसके चारों निक्षेपा उसी भाव को प्रकट करते हैं। शुभ भाव वाली वस्तु के चारों निक्षेपा शुभभाव को प्रकट करते हैं। मित्र भाव वाली वस्तु के चारों निक्षेपा मैत्रीभाव को उत्पन्न करते है। कल्याणकारी वस्तु के चारों निक्षेपा कल्याण भाव को पैदा करते हैं और अकल्याणकारी वस्त के चारों निक्षेपा अकल्याण भाव को पैदा करते हैं।

इस संसार में सामान्य रूप से सारी वस्तुयें हेय, ज्ञेय और उपादेय, इन तीनों में से किसी एक भेद की होती हैं। उदाहरण स्वरूप—स्त्री संग। साधुओं को स्त्रियों का साक्षात् संग निषिद्ध है। साक्षात् संग हेय है, अतः स्त्रियों का नाम, आकार एवं

द्रव्य भी निषिद्ध हो जाता है। साधु पुरुषों के लिए स्त्रियों का भाव निक्षेपा जिस प्रकार वर्जित है उसी प्रकार नाम निक्षेपा से स्त्री कथा का भी निषेध है; स्थापना निक्षेपा से स्त्री की चित्रित मूर्ति को देखने का भी निषेघ है तथा द्रव्य निक्षेपा से स्त्री की पूर्वापर बाल्यावस्था तथा मृतावस्था आदि का स्पर्श भी निषिद्ध है। इस प्रकार हेय रूप वस्तु के चारों निक्षेपा हेय रूप बनते हैं। केवल भाव निक्षेपा को मानने वाले स्त्री के भाव निक्षेपा को छोड़कर शेष तीनों निक्षेपा का आदर कदापि नहीं कर सकते।

इस प्रकार ज्ञेय वस्तु के भाव निक्षेपा जिस प्रकार ज्ञान प्राप्ति में निमित्त बन सकते हैं उसी प्रकार चारों निक्षेपा ज्ञान प्राप्ति में निमित्त बन सकते हैं।

जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, मेरू पर्वत, हाथी, घोड़ा आदि ज्ञेय वस्तुयें हैं। उनको जिस प्रकार साक्षात् देखने से बोध होता है उसी प्रकार उनके नाम आकार आदि देखने सुनने से भी उन वस्तुओं का बोध होता है। हेय तथा ज्ञेय की भाँति उपादेय वस्तुएं भी चारों निक्षेपों से उपादेय बनती है। श्री तीर्थंकर देव जगत् में परम उपादेय होने से उनके चारों निक्षेपा भी परम उपादेय बन जाते हैं।

समवसरण में बिराजमान साक्षात् श्री तीर्थंकर देव भाव-निक्षेपा से पूजनीय हैं इसलिए 'महावीर' इत्यादि उनके नाम की भी लोग पूजा करते हैं। वैराग्य मुद्रा से युक्त ध्याना-रूढ़ उनकी प्रतिमा को भी लोग पूजते हैं तथा द्रव्य निक्षेपा से उनकी बाल्यावस्था की पूर्व अवस्था तथा निर्वाणदशा की

उत्तर अवस्था को भी इन्द्र आदि देव भक्ति भाव से नमन करते हैं, पूजा करते हैं तथा उसका सत्कार करते हैं। इसके विपरीत अन्य देवों का भाव निक्षेपा त्याज्य होने से उनके शेष तीनों निक्षेपा भी सम्यग् दृष्टि आत्माओं के लिए त्याज्य बन जाते हैं और इसी कारण आनन्द आदि दस श्रावकों ने वीतराग को छोड़कर अन्य देवों को वंदन नमस्कार नहीं करने की प्रतिज्ञा ली थी। उस समय वीतराग के सिवाय अन्य देव भाव-निक्षेपा से विद्यमान नहीं थे पर केवल उनकी मूर्तियाँ थीं। अतः आनन्दादिक श्रावकों की नमन नहीं करने की प्रतिज्ञा उनकी मूर्तियों को लक्ष्य करके ही थी, यह अपने आप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार वीतराग के सिवाय अन्य देवों की मूर्तियों को नमन करने का निषेध जिन मूर्ति को नमस्कार करने के विधान को अपने आप ही सिद्ध कर देता है। यदि कोई रात्रि भोजन के त्याग के नियम को अंगीकार करता है, तो दिन में भोजन करने की उसकी बात स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार चारों निक्षेपा के परस्पर सम्बन्ध को समझ लेने का है। उसमें विशेष बात यही है कि जिसके भाव निक्षेपों शुद्ध और वन्दनीय है उनके ही शेष निक्षेपा वन्दनीय और पूजनीय हैं, दूसरों के नहीं।

इस पर से कोई ऐसा प्रश्न करे कि—'मरे हुए बैल को देखकर किसी को प्रतिबोध हो जाय तो क्या वह पूजनीय बन जाता है? तो इसका उत्तर स्पष्ट है। जिसका भाव निक्षेपा वंदन-पूजन योग्य है, उसी के शेष तीनों निक्षेपों की पूजा के लिए शास्त्रकार फरमाते हैं। साक्षात् बैल को किसी ने भी पूजा योग्य नहीं माना और इसीसे उसका नाम आदि भी पूजनीय नहीं होता है। राजा करकंडू आदि प्रत्येक बुद्ध महर्षि ने अतिवृद्ध बैल

को देखकर प्रतिबोध प्राप्त किया था पर भाव बैल वंदनीय नहीं होने से उनके प्रतिबोध में कारणभूत बैल के नामादिक वंदन करने योग्य नहीं गिने गये ।

प्रश्न ३—स्त्री के चित्र वाले मकान में साधु को नहीं रहना चाहिए, ऐसा फरमान किस सूत्र में है ?

उत्तर—श्रुत केवली आचार्य भगवान् श्रीमद् शय्यंभवसूरि महाराजा द्वारा रचित श्री दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्याय में फरमाया है कि–

जिसमें स्त्री की मूर्ति हो ऐसी चित्र वाली दीवार को नहीं देखना तथा अलंकारयुक्त अथवा अलंकाररहित स्त्री को भी नहीं देखना। अचानक दृष्टिपात हो भी जाय तो सूर्य को देखकर जिस प्रकार दृष्टि नीची कर ली जाती है उसी प्रकार दृष्टि नीची कर लेनी चाहिए। स्त्री का चित्र देखकर मोह उत्पन्न होता है। इसलिए उसका जिस प्रकार निषेध किया गया है, उसी प्रकार वीतराग परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन से वीत-राग दशा का साक्षात्कार होता है; अतः वीतराग अवस्था की प्राप्ति के अभिलाषी को भी वीतराग परमात्मा के सदैव दर्शन आदि करने की आवश्यकता बतलाई गई है।

प्रश्न ४—स्त्री की मूर्ति देखकर प्रत्येक को काम विकार उत्पन्न होता दिखाई देता है, परन्तु प्रतिमा को देखकर वैराग्य भाव सभी को उत्पन्न होता हो ऐसा दिखाई नहीं देता है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जिनको प्रतिमा पर द्वेष अथवा दुर्भाव है उनको वीतराग की मूर्ति देखने पर भी शुभभाव प्रकट होना कठिन

है परन्तु जो लघु कर्मी जीव हैं उनको तो श्री वीतराग देव को शान्त मुद्रा के दर्शन के साथ ही रोम रोम में प्रेम उमड़े बिना नहीं रहता। मुनि की शान्त मूर्ति को देखकर भी किसी पापी आत्मा के मन में जिस प्रकार भक्ति भाव उत्पन्न नहीं होता है, वैसे ही जिसको मूर्ति के प्रति द्वेष या दुर्भाव होता है ऐसी आत्मा को मूर्ति के दर्शन से भी भक्ति भाव उत्पन्न नहीं हो, यह स्वाभाविक है। जगत् का सामान्य नियम तो ऐसा है कि गुणवान की मूर्ति देखकर उनके जैसे गुणों को प्राप्त करने की उत्कंठा हुए बिना नहीं रहती पर उसमें भी अपवाद होते हैं

श्री आचारांश सूत्र में फरमाया है कि–

"जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा।"

अर्थात्—परिणाम की दृष्टि से जो आश्रव के कारण होते हैं; वे संवर के कारण बनते हैं तथा जो संवर के कारण होते हैं; वे आश्रव के कारण बनते हैं।

इलाचिपुत्र पाप के इरादे से घर से निकले थे तथापि परिणाम की विशुद्धता से बाँस की डोरी पर नाच करते समय केवलज्ञान प्राप्त किया था। भरत चक्रवर्ती का आरिसा भुवन में रूप देखने जाना आश्रव का कारण था; पर मुद्रिका के गिरने से शुभ भावनाओं में आरूढ़ होते ही उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

इसी प्रकार साधु मुनिराज संवर एवं निर्जरा के कारण हैं फिर भी उनको दुःख देने, उनका बुरा विचारने तथा उनकी निन्दा आदि करने से जीव अशुभ कर्म का आश्रव करता है,

परन्तु इससे साधु मुनिराज की पूजनीयता नष्ट नहीं हो जाती। साक्षात् भगवान् श्री महावीर देव को देखकर भी संगमदेव तथा ग्वाले आदि को अशुभ परिणाम हुए, इसमें कारण उनका अशुभ भाव ही है। एक कवि ने कहा है कि—

पत्रं नैव यदा करीरविटपे, दोषो वसंतस्य किम्।
उल्लूको न विलोकते यदि दिवा, सूर्यस्य किं दूषणम्॥

वर्षा नैव पतन्ति चातकमुखे, मेघस्य किं दूषणम्,
यद् भाग्यं विधिना ललाटलिखितं, दैवस्य किं दूषणम्॥१॥

करीर के वृक्ष पर पत्ते नहीं आते उसमें वसंत ऋतु का क्या दोष? उल्लू को दिन में नहीं दिखाई देता तो इसमें सूर्य का क्या दोष? वर्षा की बूँदें चातक के मुख में नहीं गिरती तो इसमें मेघ का क्या दोष? तथा इसी प्रकार ललाट पर लिखे भाग्यानुसार फल भोगना पड़े तो इसमें देव का भी क्या दोष माना जाय?

इसी प्रकार श्री देवाधिदेव की मूर्ति तो शुभ भाव का ही कारण है तथापि उनके द्वेषी, दुष्ट परिणामो तथा हीनभागी जीवों को भाव उत्पन्न न हो तो वास्तव में उन्हींकी कम नसीबी है। सूर्य के सामने कोई धूल डाले अथवा सुगंधित पुष्प फेंके, दोनों फेंकने वाले की ओर ही लौटते हैं। अथवा कठोर दीवार पर कोई मणि या पत्थर फेंके तो वे वस्तुएँ फेंकने वाले की ओर ही वापिस आती हैं, अथवा चक्रवर्ती राजा की कोई निन्दा या स्तुति करे तो उससे उसका कुछ बिगड़ता बनता नहीं; पर निंदक स्वयं दुःख का भागी बनता है एवं प्रशंसक स्वयं उत्तम फल प्राप्त करता है।

दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो जिस प्रकार पथ्य आहार लेने से खाने वाले को सुख मिलता है और अपथ्य भोजन करने से भोजन करने वाले को दु:ख मिलता है पर आहार में काम में ली हुई वस्तु को कुछ नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार परमात्ममूर्ति की स्तुति, भक्ति अथवा निंदा करने से अलिप्त ऐसे परमात्मा पर कुछ भी असर नहीं होती है परन्तु निंदक स्वयं दुर्गति योग्य कर्म उपार्जित करता है व पूजक शुभ कर्म का उपार्जन कर स्वयं सद्गति का पात्र बनता है ।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि ब्रह्मचारी महात्माओं को स्त्री की मूर्ति देखने का निषेध किया है परंतु साक्षात् स्त्री के हाथ से आहार पानी लेने का निषेध नहीं किया। स्त्रियाँ दर्शन वंदन करने आवें, घंटों तक व्याख्यान सुनने बैठी रहें, धर्म चर्चा संबंधी शंका समाधान अथवा वार्तालाप करें आदि कार्यों में स्त्री का साक्षात् परिचय होते हुई भी निषेध नहीं किया पर स्त्री के चित्रांकन वाले मकान में रहने का निषेध किया है इसका क्या कारण ?

चित्र में अंकित स्त्री की आकृति मात्र से कोई आहार पानी मिल नहीं सकता या वार्तालाप हो नहीं सकता है। चित्रांकित स्त्री उठकर स्पर्श भी नहीं कर सकती फिर भी शास्त्रकारों ने उसे निषिद्ध बताया है। इसके पीछे कारण केवल इतना ही है कि स्त्री के चित्र अथवा मूर्ति की ओर चित्त की जैसी एकाग्रता होती है, मन में दूषित भाव उठते हैं, धर्मध्यान में बाधा पहुँचती है तथा कर्म बंधन होने के प्रसंग उपस्थित होते हैं वैसे धर्म के निमित्त साक्षात् सम्पर्क में आने वाले स्त्री प्रसंगो में सम्भव नहीं है, इसका कारण यह है कि वहाँ अशुभ मार्ग में चित्त को एकाग्र करने का अवसर साधु को कठिनाई से मिलता है जबकि

मकान में स्त्री की मूर्ति होने पर उस ओर टकटकी नजर से बारम्बर देखने का तथा उसमें चित्त के एकाग्र तथा लीन बनने की ज्यादा संभावना रहती है तथा परिणाम स्वरूप मन में विकार उत्पन्न होते हैं, ऐसे अनिष्टों का पूरा पूरा भय रहता है ।

सूत्रकार महर्षियों की आज्ञा निष्प्रयोजन अथवा विचार रहित नहीं हो सकती। इस पर से यह निश्चित हो जाता है कि मन को स्थिर कर शुभ ध्यान में लाने हेतु शुभ और स्थिर आलंबन की विशेष आवश्यकता है। ऐसा स्थिर एवं शुभ आलंबन श्री जिनराज की शांत मूर्ति के सिवाय दूसरा एक भी नहीं।

इससे दूसरी बात यह भी सिद्ध होती है कि उत्तम ध्यान एवं मन की एकाग्रता करने की अपेक्षा से श्री जिनमूर्ति की श्रेणी साक्षात् जिनराज से भी बढ़ जाती है और इसी कारण श्री **रायपसेणी** आदि शास्त्र ग्रंथों में साक्षात् तीर्थंकर देव को वंदन नमस्कार करते समय 'देवयं चेइयं' जैसे पाठ हैं अर्थात् जैसी मैं जिनप्रतिमा की भक्ति करता हूँ वैसी ही अंतरंग प्रीति से आपकी (साक्षात् अरिहंत की) भक्ति करता हूँ। पुनः साक्षात् भगवान् को नमस्कार करते समय—

'सिद्धि गई नामधेयं, ठाणं संपाविउ कामस्स ।'

अर्थात्—'सिद्धि गति नाम के स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले' इस प्रकार बोला जाता है और श्री जिनप्रतिमा के आगे—

'सिद्धि गई नामधेयं ठाणं संपत्ताणं ।'

अर्थात्-"सिद्धि गति नाम के स्थान पर पहुँचे हुए" इस प्रकार

कहने में आता है। इन पाठों आदि का सच्चा रहस्य समझ कर पूर्वाचार्यों द्वारा अत्यंत आदर सहित प्रमाणित की हुई श्री जिन प्रतिमा का अंतरंग से आदर करना चाहिये।

प्रश्न ५—क्या कोई ऐसा शास्त्रीय प्रमाण है कि स्थाप्य की स्थापना किये बिना कोई भी धर्म क्रिया हो ही नहीं सकती?

उत्तर—श्री जैन धर्म में समस्त धर्म क्रियाएँ स्थापना के सम्मुख ही करनी चाहिये, इसके लिये अनेक सूत्रों के प्रमाण हैं। जैसे देव के अभाव में देव की मूर्ति चाहिये वैसे ही गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना करनी चाहिये। दुषम काल में सूर्य समान पूर्वधर आचार्य भगवान् श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण महाराज स्वरचित श्री **विशेषावश्यक महाभाष्य** में गुरु अभाव में गुरु की स्थापना करने के विषय में निम्न गाथा द्वारा फरमाते हैं

"गुरुविरहंमि ठवणा गुरुवएसोवदंसणत्थं च।
जिणविरहंमि जिणबिंबसेवणामंतणं सहलं ।।१।।

श्री ठाणांग सूत्र में भी दश प्रकार की स्थापना बताई है, उसका स्थापन कर 'पंचिंदिय' सूत्र से उसमें गुरु महाराज के गुणों का आरोपण कर उसके आगे धर्म क्रिया करना उचित है। स्थापना में मुख्य स्थापना 'अक्ष' की की जाती है। वह तीन, पाँच, सात या नौ आवर्त वाला हो तो उत्तम गिना जाता है। उसका फल श्री भद्रबाहुस्वामी कृत 'स्थापना कुलक' में विस्तार से बताया गया है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने भी स्थापना की सज्झाय बतलाई है। उसमें भी इसका फल तथा विधि बताई है।

पूर्वोक्त 'अक्ष' का योग न बने तो ज्ञान - दर्शन - चारित्र के उपकरण जैसे कि पुस्तक, नवकारवाली आदि में स्थापना करने का विधान किया हुआ है।

आवश्यक धर्मक्रियाओं में स्थान २ पर गुरु महाराज की आज्ञा माँगनी पड़ती है तो वह क्रिया करते समय साक्षात् गुरु न होने की स्थिति में उनकी स्थापना बिना कैसे काम चल सकता है।

श्री समवायांग सूत्र में बारहवें समवाय में गुरुवंदन के पच्चीस बोल पूरे करने का आदेश है। उसका पाठ नीचे माफिक है—दुवालसावत्तो कित्तिकम्मे पन्नते, तं जहा।

"दुओणयं जहाजायं कित्तिकम्मं बारसावयं।
चउसिरं तिगुत्तं, दुप्पवेसं एगनिक्खमणं ॥१॥

अर्थात् वंदन क्रिया में बारह आवर्त्त फरमाए हैं, वे इस प्रकार है : अवनत अर्थात् दो बार मस्तक झुकाना और एक यथाजात अर्थात् जन्म तथा दीक्षा ग्रहण करते समय की मुद्रा धारण करनी। बारह आवर्त्त अर्थात् प्रथम के प्रवेश में छः तथा दूसरे प्रवेश में छः। ये

'अहो कायं कायसंफासं।'

आदि पाठ से करना। चार बार सिर अर्थात् पहले तथा दूसरे प्रवेश में दो दो बार सिर झुकाना, त्रि गुप्त अर्थात् मन-वचन-काया इन तीनों से वंदना सिवाय दूसरा कार्य न करना, दो प्रवेश अर्थात् गुरुमहाराज की सीमा में प्रवेश करना और एक निष्क्रमण अर्थात् गुरु महाराज की सीमा में प्रवेश

रूप अवग्रह से बाहर निकलना, इस प्रकार कुल पच्चीस बोल हुए, उसमें गुरुमहाराज की हद में दो बार प्रवेश करना और एक बार निकलना यह प्रत्यक्ष गुरु के अभाव में उनकी स्थापना बिना किस प्रकार संभव हो सकता है ?

वंदन के पाठ में गुरुमहाराज की आज्ञा मांगकर भीतर प्रवेश करने का स्पष्ट फरमान है जैसे कि—

"इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि अहो कायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो ।"

अर्थात्– मेरी यह इच्छा है कि हे क्षमाश्रमण ! वंदन हेतु पाप व्यापार से रहित शरीर की शक्ति से मित अवग्रह अर्थात् साढ़े तीन हाथ प्रमाण क्षेत्र में प्रवेश करने की मुझे आज्ञा प्रदान करो । उस समय गुरु की आज्ञा लेकर शिष्य 'निसीहि' अर्थात् गुरुवंदन सिवाय अन्य क्रिया का निषेध कर अवग्रह में प्रवेश करे और दोनों हाथ मस्तक पर लगाकर गुरु के चरण स्पर्श करते

'अहो कायं कायसंफासं ।

आदि पाठ कहे, जिसका अर्थ ऐसा है कि– 'हे भगवंत ! आपकी अधो काया अर्थात् चरण कमल को मेरी उत्तम काया अर्थात् मस्तक द्वारा स्पर्श करते समय आपको जो कष्ट पहुँचाया हो उसे क्षमा करो ।'

इस प्रकार अनेक स्थानों पर गुरु महाराज की आज्ञा मांग कर क्रिया करने की होती है। ऐसी क्रिया गुरु के अभाव में

गुरु की स्थापना बिना कैसे हो सकती है। यदि कहोगे कि 'गुरु- अवस्था की आकृति की मन में कल्पना कर आज्ञा आदि मांगूँगा' तब तो स्थापना निक्षेपा का सहज रूप से स्वीकार हो गया। फिर मृत्यु उपरांत अन्य गति में गये हुए गुरुओं को याद करके उनका गुणगान करने में आता है तो उसको किस निक्षेपा के अधीन समझेंगे ? गुरुपने का भाव निक्षेपा तो उस समय उपस्थित होता ही नहीं। भाव निक्षेपे से तो गुरु अन्य गति में हैं। इतना होने पर भी 'गुरुपने की पूर्ण अवस्था की मन में कल्पना करके गुणगान आदि करने में आता हैं', ऐसा कहने से स्थापना निक्षेपों एव द्रव्य निक्षेपों दोनों मानने लायक सिद्ध हो जाते हैं।

प्रश्न ६—श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में शेष तेईस तीर्थंकरों के जीव संसार में थे; फिर भी उस समय उनको वंदन करने में धर्म कैसे हो सकता हैं ?

उत्तर—श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में अन्य तेईस तीर्थंकरों के वंदन का विषय द्रव्य निक्षेपा के आधीन है। द्रव्य बिना भाव, स्थापना अथवा नाम कुछ भी नहीं हो सकता। श्री ऋषभदेव स्वामी ने जिन जीवों को मोक्षगामी बताया, वे सभी पूजनीय हैं।

जिस प्रकार धनाढ्य साहूकार के हाथ से लिखी हुई, उसके हस्ताक्षर व मोहर वाली; अवधि विशेष की हुंडी हो तो उसकी अवधि पूर्ण होने के पूर्वभी रकम से काम निकाला जा सकता है, उसी प्रकार मोक्षगामी भव्य जीवों की ऋषभदेव स्वामी

द्वारा दी हुई विश्वस्तता रूपी हुंडी को कौनसा विचारशील व्यक्ति अस्वीकार करेगा ?

भगवान् के विश्वस्तता 'रूपी प्रबल कारण को लेकर बाकी के तेईस तीर्थंकर प्रथम तीर्थंकर के समय में भी वंदनीय थे। इस सम्बन्ध में श्री आवश्यकसूत्र में मूल पाठ भी है कि—

'चत्तारि-अट्ठ-दस-दोय, वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं।'

अर्थात्– चारों दिशाओं में क्रम से चार, आठ, दस और दो इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों के बिंब श्री भरत महाराजा ने अष्टापद पर्वत पर स्थापित किये हैं। इस विषय में निर्युक्ति—कार श्रुतकेवली आचार्य भगवान् श्रीमद् भद्रबाहुस्वामीजी महाराज ने खुलासा किया है कि 'भरत राजा ने श्री ऋषभदेव स्वामी को भावि में होने वाले तेवीस तीर्थंकरों के नाम, लक्षण, वर्ण, शरीर का प्रमाण आदि पूछकर उसी के अनुसार, अष्टापद गिरि पर श्री जिन मंदिर बनाकर सभी तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ ठीक वैसे ही आकर की स्थापित की थीं।'

इससे सिद्ध होता है कि तेईस तीर्थंकरों के होने से पूर्व भी उनकी पूजा तथा मूर्ति तथा मंदिर द्वारा उनकी भक्ति करने की प्रथा सनातन काल से चली आ रही है और इसे महान् ज्ञानी पुरुषों ने भी स्वीकार किया है।

प्रश्न ७—'सिद्धायतन' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—'सिद्धायतन' यह गुणनिष्पन्न नाम है। इसका अर्थ जिनमंदिर होता है। 'सिद्ध' अर्थात् सिद्ध भगवान् की प्रतिमा और 'आयतन' अर्थात् घर। अर्थात् जिनघर या जिन मंदिर,

यह 'सिद्धायतन' का अर्थ । वैताढ्य पर्वत. चुल्लहिमवंत पर्वत, मेरु पर्वत, श्री मानुषोत्तर पर्वत, श्री नंदीश्वर द्वीप, श्री ऋचक द्वीप आदि पर्वतों तथा द्वीपों पर अनेकों शाश्वत जिनमूर्तियों वाले मन्दिरों के होने का श्री **जीवाभिगम** तथा **श्रीभगवती** आदि सूत्रों में स्पष्ट बताया हुआ है और उन सूत्रों को तमाम जैन मानते हैं ।

प्रश्न ८—कई लोग श्री जिन प्रतिमा से जिनबिंब नहीं लेकर, श्री वीतरागदेव के नमूने के समान साधु को ग्रहण करते हैं, क्या यह उचित है ?

उत्तर—उनकी यह मान्यता झूठी एवं कल्पित है । सूत्रों में स्थान स्थान पर श्री जिनप्रतिमा श्री जिनवर तुल्य कही गई है । श्री जीवाभिगम आदि सूत्रों में जहाँ जहाँ शाश्वती प्रतिमा का अधिकार है वहाँ वहाँ 'सिद्धायतन' अर्थात् 'सिद्ध भगवान् का मंदिर' ऐसा कहा है पर 'मूर्ति-आयतन' अथवा 'प्रतिमा-आयतन' नहीं कहा है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि श्री सिद्ध की प्रतिमा सिद्ध के समान है ।

श्री रायपसेणी सूत्र तथा **श्री जीवाभिगम** सूत्र में श्री सूर्याभ देवता तथा श्री विजयपोलीआ की द्रव्य पूजा का अधिकार "धूवं दाऊणं जिणवराणं" अर्थात् 'श्री जिनेश्वर देव को धूप करके' ऐसा कहा है। इससे भी श्री जिन प्रतिमा को जिनवर समान मानी गई है, यह सिद्ध होता है

पुनः **श्री रायपसेणी, श्री दशाश्रुतस्कंध** और **श्री उववाई** आदि अनेक सूत्रों में तीर्थंकर को वंदन के लिए जाते समय श्रावकों के अधिकार में कहा है कि—'देवयं चेइयं पज्जुवासामि'

अर्थात् देव संबंधी चैत्य 'अर्थात् श्री जिनप्रतिमा, उनके सामने मैं पर्युपासना करुँगा। ऐसे अनेक स्थलों पर भाव तीर्थंकर तथा स्थापना तीर्थंकर की एक समान पर्युपासना करने का पाठ है; जिससे दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

भाव या स्थापना दोनों में से किसी की भी भक्ति और पूजा जिस भाव से की जाती है, तदनुसार फल की प्राप्ति होती है।

श्री ज्ञातासूत्र में द्रोपदी के पूजन के अधिकार में श्री 'जिन-मंदिर' को श्री 'जिनगृह' कहा है पर 'मूर्ति-गृह' नहीं कहा। इस पर से भी श्री जिनमूर्ति को ही जिन की उपमा घटती है न कि साधु की। साधु वस्त्र, पात्र, रजोहरण और मुहपत्ति आदि उपकरण सहित है जबकि भगवान् के पास इनमें से कुछ भी नहीं होता। भगवान् रत्नजडित सिंहासन पर बैठते हैं, उनके दोनों ओर चँवर ढुलाये जाते हैं, पीछे भामांडल रहता है, आगे देवदुंदुभि बजती है, देवता पुष्पवृष्टि करते हैं इत्यादि अतिशयों से युक्त भगवान होते हैं। साधु के पास इनमें से कुछ भी नहीं होता है। तब फिर साधु ऐसे श्री वीतराग की बराबरी कैसे कर सकते हैं?

पर्यंकासन पर बिराजमान सौम्य दृष्टि वाली वीतराग अवस्था की प्रतिमा तो श्री अरिहंत भगवान के तुल्य है। वीत-राग की मूर्ति को वीतराग का नमूना कहा जाता है पर साधु का नहीं। साधु के नमूने को ही साधु कहा जाता है। श्री अंतगडदशा सूत्र में कहा है कि 'हरिणगमेषी की प्रतिमा की-आराधना करने से वह देव आराध्य बन गया' इसी प्रकार श्री वीतराग की मूर्ति की आराधना करने से श्री वीतरागदेव आराध्य बन जाते हैं।

प्रश्न ९—श्री जिनप्रतिमा को जिनराज समझकर नमस्कार करो तो वह नमस्कार मूर्ति को हुआ, भगवान् को नहीं, क्यों कि भगवान् तो मूर्ति से भिन्न हैं। मूर्ति को नमस्कार करने से भगवान् को नमस्कार नहीं होता और भगवान् को नमस्कार करने से मूर्ति को नमस्कार नहीं होता। इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—मूर्ति और भगवान् सर्वथा भिन्न नहीं है। इन दोनों में कुछ समानता है। श्री जिनमूर्ति को नमस्कार करते समय श्री जिनेश्वर भगवान् का भाव लाकर नमस्कार किया जाता है अतः दोनों भिन्न नहीं कहे जाते।

जैसे यहाँ बैठे महाविदेह क्षेत्र में बिराजमान श्री सीमंधर स्वामी को सभी जैन वंदन-नमस्कार करते हैं तब राह में लाखों घर, वृक्ष, पर्वत आदि अनेक वस्तुएँ बीच में आती हैं तो नमस्कार उन वस्तुओं को हुआ या श्री सीमंधर स्वामी को? यदि कहोगे कि नमस्कार करने का भाव भगवान् को होने से भगवान् को ही नमस्कार हुआ, अन्य वस्तु को नहीं; तथा केवलज्ञान से भगवान् भी उस वंदना को इसी रीति से जानते हैं तब इसी तरह मूर्ति द्वारा भी भगवान् का भाव लाकर वंदन पूजन करने में आवे तो इसे क्या भगवान् नहीं जानते !

इसी तरह साधु को वंदन नमस्कार करते हुए भी उनके शरीर को वंदन होता है या उनके जीवन को ? यदि शरीर को नमस्कार किया जाता हो तो जीव तो शरीर से पृथक वस्तु है और जो जीव को नमस्कार करने में आता हो तो बीच में काया का अवरोध उपस्थित है और काया जीव से भिन्न पुद्गल द्रव्य है।

यदि कहोगे कि यह पुद्गलद्रव्य साधु का ही है तो फिर मूर्ति भी देवाधिदेव श्री वीतराग प्रभु की ही है, ऐसा क्यों नहीं सोच सकते हो ? मुनि की काया को वंदन करने से जैसे मुनि को वंदन होता है वैसे ही श्री वीतराग प्रभु की मूर्ति को वंदन करने से साक्षात् श्री वीतराग प्रभु को ही वंदन होता है।

प्रश्न १०—निराकार भगवान् की उपासना ध्यान द्वारा हो सकती है तो फिर मूर्ति पूजा मानने का क्या कारण ?

उत्तर—मनुष्य के मन में यह ताकत नहीं कि वह निराकार का ध्यान कर सके। इन्द्रियों से ग्राह्य वस्तुओं का विचार मन कर सकता है। उसके अतिरिक्त वस्तुओं की कल्पना भी मन को नहीं आ सकती।

जो जो रंग देखने में आते हैं, जिन २ वस्तुओं का स्वाद लिया जाता है, जिन २ वस्तुओं का स्पर्श किया जाता है, जो गंध सूँघने में आती है अथवा जो शब्द सुनने में आते हैं, उतने तक का ही विचार मन कर सकता है, उनके अतिरिक्त रंग, रूप अथवा गंध आदि का ध्यान, स्मरण अथवा कल्पना करना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है।

यदि किसी ने 'पूर्णचन्द्र' नाम के व्यक्ति का केवल नाम सुना हो, उसे आँखों से देखा भी न हो और न कभी उसका चित्र देखा हो तो क्या नाम मात्र से 'पूर्णचन्द्र' नाम के व्यक्ति का ध्यान आ सकता है ? नहीं। उसी प्रकार भगवान् को साक्षात् अथवा मूर्ति द्वारा जिसने देखा नहीं हो वह उनका ध्यान किस प्रकार कर सकता है ?

जब २ ध्यान करना होता है तब तब कोई न कोई वस्तु नजर सम्मुख रखनी ही होती है। भगवान् को ज्योति स्वरूप मान-

कर उनका ध्यान करने वाला उस ज्योति को श्वेत, श्याम आदि किसी न किसी रंग वाली मान कर ही उसका ध्यान कर सकता है। सिद्ध भगवंतों में ऐसा कोई भी पौद्गलिक रूप नहीं है, उनका रूप अपौद्गलिक है जिसे सर्वज्ञ केवलज्ञानी महाराज सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकते हैं।

श्री सिद्धचक्र यंत्र में श्री सिद्ध भगवंतों की लाल रंग की कल्पना की गई है, परन्तु वह केवल ध्यान की सुविधा की दृष्टि से है परंतु वास्तविक नहीं। निराकार सिद्ध का ध्यान अतिशय-ज्ञानी को छोड़कर दूसरा कोई भी करने में समर्थ नहीं है।

कोई कहेगा कि हम मन में मानसिक मूर्ति की कल्पना कर; सिद्ध भगवान् का ध्यान करेंगे परन्तु पत्थर जड़ मूर्ति, को नहीं मानेंगे। उनका यह कथन भी विवेक शून्य है क्योंकि यदि उनसे पूछा जाय कि तुम्हारी मानसिक मूर्ति का रंग कैसा है? लाल या श्वेत? तो वे क्या उत्तर देंगे? यदि वे कहते हैं कि—'उसका रूप नहीं, रंग नहीं या कोई वर्ण नहीं इसलिये—किस प्रकार बताया जावे? तो उन्हें यह कहना चाहिये कि जिसका रूप, रंग अथवा वर्ण नहीं उसका ध्यान करने की तुम्हारे में शक्ति भी नहीं है'।

इस प्रकार प्रत्यक्ष मूर्ति को मानने की बात से छुटकारा पाने के लिये मानसिक मूर्ति मानने से अन्त में ध्यान रहित दशा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब मूर्ति के अभाव में ध्यान बनता ही नहीं तो प्रकट रूप से मानने में क्या आपत्ति है? मानसिक मूर्ति अदृश्य एवं अस्थिर है जबकि प्रकट मूर्ति दृश्य एवं स्थिर है और इसीलिये ध्यान आदि के लिये अनुकूल है।

साथ ही भगवान् श्री तीर्थंकर देवता समवसरण में भी पूर्व की ओर मुख कर बैठते हैं तथा शेष तीनों ओर देवतागण

भगवान् की तीन मूर्तियों की स्थापना करते हैं, ऐसा श्री **समवसरण प्रकरण, श्री समवायांग सूत्रटीका, श्री तत्त्वार्थ सूत्र-टीका** आदि प्राचीन ग्रंथ प्रमाणित करते हैं।

कई लोग यह कहते हैं कि 'भगवान् के अधिक से अधिक चार मुख दिखाई देते हैं पर तीन ओर मूर्ति है ऐसा नहीं है' यह बात भी झूठी है। कारण यह है कि किसी भी शास्त्र में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है।

समवसरण की रचना से भी चित्त की एकाग्रता के लिये मूर्ति की आवश्यकता सिद्ध हो जाती है। भगवान् की भव्य मूर्ति के दर्शन से उनके गुण याद आते ही श्रद्धालु लोगों को भगवान् के साक्षात्कार जैसा आनन्द प्राप्त होता है तथा मूर्ति को साक्षात् भगवान् समझ कर भावयुक्त भक्ति होती है। उस समय भक्ति करने वाले के मन के अध्यवसाय कितने निर्मल होते होंगे तथा उस समय वह जीव कैसे शुभ कर्मों का उपार्जन करता होगा, इसका सच्चा और पूरा ज्ञान सर्वज्ञ के सिवाय अन्य किसी के पास नहीं है।

जो लोग स्वकल्पित कल्पना से परमात्मा का मानसिक ध्यान करने का आडम्बर करते हैं, वे सैकड़ों अथवा हजारों कोस वाहन आदि में बैठकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों का नाश कर अपने गुरु आदि की वन्दना करने किस लिये जाते होंगे? क्या गुरु का मानसिक ध्यान घर बैठे शक्य नहीं कि जिस कारण गुरु के मूर्तिमय शरीर की वन्दना हेतु हिंसा करके हजारों कोस जाने की जरूरत पड़ती है।

सांसारिक जीव अनेक चिंताओं से ग्रस्त होते हैं। किसी आलंबन के अभाव में उनको शुभ ध्यान की प्राप्ति होना आसान

नहीं है। अस्थिर मन एवं चंचल इद्रियों पर नियन्त्रण रखना बच्चों का खेल नहीं है। किसी वाद्य यंत्र पर गाया हुआ गीत कानों में पड़ते ही चंचल मन उधर चला जाता है। उस समय ध्यान की बातें कहीं उड़ जाती हैं। ऐसी चंचल मनोवृति वाले लोगों के लिये श्री जिन पूजा में लीन हो जाना, यही एक परम ध्यान है।

अनेक चिन्ताओं से युक्त गृहस्थाश्रम में जिनपूजा का अनादर करना केवल हानिकारक ही है। दुनियादारी की विविध झंझटों में फँसे हुए गृहस्थों के लिये मूर्ति के आलंबन बिना मानसिक ध्यान होना सर्वथा असंभव है। श्री जिनपूजा का आदर करके तथा मूर्ति के माध्यम से श्री जिनेश्वरदेव के गुण-गान आदि करने से चंचल मन स्थिर होता है तथा स्थिर हुए मन को संसार की असारता आदि का बोध सरलता से कराया जा सकता है। सुख-दुख में जहाँ तक सम भाव नहीं आता है, तब तक बड़े बड़े योगीराज की तरह आलंबन-रहित ध्यान की बातें करना व्यर्थ है। जिस समय वह समभाव वाली स्थिति आ जायगी, आलंबन स्वतः ही छूट जायगा।

श्री जैन धर्म के मर्मज्ञ पूर्वाचार्य महर्षियों ने प्रत्येक जीव को अपने गुणस्थानक अनुसार क्रिया अंगीकार करने का आदेश दिया है। वर्तमान में कोई भी जीव सातवें गुणस्थानक से आगे नहीं चढ़ सकता है। जीवन के भिन्न २ समय में प्राप्त सातवें गुणस्थानक के कुल समय को जोड़ा जाय तो वह एक अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं बनता। इसलिये वर्तमान के जीवों को ऊंचे से ऊंचा छट्ठा गुणस्थानक तक ही समझना चाहिये। वह गुणस्थानक प्रमादयुक्त होने से उसमें रहने वाले जीव भी निरा-लंबन ध्यान करने में असमर्थ हैं। ऐसा होने पर भी जो लोग

छट्ठे गुणस्थानक की सीमा को भी नहीं पहुँच पाये हैं तथा अनेक सांसारिक प्रपंचों में गुँथे हुए हैं वे निरालंबन ध्यान की बातों का प्रदर्शन करते हैं, यह केवल आडंबर है। चौथे, पाँचवें गुणस्थानक में होने के नाते श्रावक द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की पूजा करने के अधिकारी हैं जबकि साधु उनसे ऊँचे स्थान अर्थात् छट्ठे गुणस्थानक में होने से केवल भाव पूजा के अधिकारी हैं।

जिस प्रकार व्यवहारिक शिक्षा में पहले क, का आदि फिर बाराक्षरी, उसके बाद शास्त्राभ्यास, ऐसा क्रम है, उसी प्रकार गुणस्थानक की ऊँची दशा में चढ़ते समय क्रिया में भी परिवर्तन होता रहता है। सीढ़ियां छोड़कर एकदम छलाँग मारकर भवन के ऊपरी भाग पर चढ़ने का अविवेक पूर्ण प्रयत्न करने से वह स्थान तो बहुत दूर रह जाता है, परन्तु इसके विपरीत नीचे गिरने से हाथ पैर भी टूट जाते हैं।

अब यदि कोई प्रश्न करता है कि 'संसार पर राग कम किया और भगवान् पर राग बढ़ाया तो इसमें भी राग तो कायम ही रहा। जब तक राग-द्वेष रहित नहीं बनेंगे तब तक मुक्ति कैसे मिल सकती है ? यह प्रश्न भी नासमझी का है। पूर्ण रूप से राग रहित होने की शक्ति नहीं आवे तब तक प्रभु के प्रति राग रखने से संसार के अशुभ राग तथा उनसे बंधाते बुरे कर्मों से बचा जा सकता है। घर बैठे जितनी अनेक प्रकार की वैभाविक चर्चाएँ होती हैं उतनी जिनमंदिर में नहीं हो सकती।

प्रभु की शांत मूर्ति के दर्शन से तथा उनके गुणगान में लीन होने से चित्त में दुष्ट भाव तथा बुरे विचार टिक नहीं सकते। इतना ही नहीं परन्तु उन्हें दूर हटाने का एक मुख्य

साधन भी प्राप्त हो जाता है। जब तक पूर्ण विशुद्धि प्राप्त न हो, तब तक जीवन को उच्च मार्ग की ओर ले जाने का केवल यही उत्कृष्ट मार्ग है। जो इस मार्ग में विश्वास नहीं रखते तथा अपने आप को पूर्ण विशुद्ध मानकर समभाव-साधक वाले मानते हैं, उन्हें यह पूछना चाहिये है कि यदि तुम वास्तव में राग द्वेष से परे हो तो तुम अपने गुरु एवं अन्य नेताओं का आदर कर उन पर राग क्यों करते हो ? उनके आहार, वस्त्र एवं पात्रादि के प्रति सम्मान भाव क्यों रखते हो ? क्या यह राग रहित होने का प्रतीक है ? समभाव में लीन व्यक्ति के लिये सदा सामायिक है, तो गुरु के पास जाकर सामायिक तथा प्रतिक्रमण आदि करने का क्या प्रयोजन है ?

स्त्री पुत्रादि प्रिय वस्तुओं के संयोग से हर्ष तथा उनके वियोग से शोक-धन, माल, हाट आदि के लूटने से संताप तथा उनकी प्राप्ति से हर्ष, वैसे ही किसी दुष्ट व्यक्ति के बुरे वचन कहने पर तथा कष्ट देने पर क्रोध तथा सम्मान देने पर आनंद, ऐसी बातों से राग द्वेष तो प्रत्यक्ष दिखता ही है। उनमें फिर 'कारण' अथवा 'आलंबन' के बिना समता भाव पैदा करने की बात करना क्या ढोंग नहीं है ? 'मेरा घर, मेरी स्त्री, मेरा धन, मेरा पुत्र, मेरा नौकर' आदि मेरा-तेरा करने का जिनका स्वभाव निर्मूल नहीं हुआ, उनको समदृष्टि वाले कैसे कह सकते है ?

जो संपत्ति तथा विपत्ति में, शत्रु एवं मित्र में, स्वर्ण और पत्थर में तथा रत्न और तृण समूह में कोई भी भेद-भाव नहीं रखते वे ही वास्तव में समभावशाली, आत्मज्ञानी तथा उच्च कोटि के साधक हैं। आज के युग में ऐसे महान् व्यक्ति कितने

हैं ? विश्व का बड़ा भाग दुनियादारी की झंझटों में फँसा हुआ है। उनके लिये 'अपने आपको आत्मज्ञानी' सिद्ध करने का ढोंग रचना तथा उचित कार्य का अनादर करना योग्य नहीं है। योग्यता बिना मिथ्याभिमान रखने से किसी भी स्वार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। इंद्रियों तथा मन पर काबू पाये बिना निरालंबन ध्यान की बातें करने वालों को शास्त्रकार निम्नोक्त उपमा देते हैं :—

"जो व्यक्ति इन्द्रियों को जीते बिना ही शुभ ध्यान रखने की इच्छा करता है, वह मूर्ख जलती हुई आग के अभाव में रसोई पकाना चाहता है, जहाज को छोड़कर अगाध समुद्र को दोनों हाथों से तैरकर पार करने की तथा बीज बोये बिना ही खेत में अनाज उत्पन्न करने की इच्छा करता है।"

प्रश्न ११—मूर्ति तो एकेन्द्रिय पाषाण की होने से प्रथम गुणस्थानक पर है। उसको चौथे-पाँचवें गुणस्थानक वाले श्रावक तथा छट्ठे-सातवें गुणस्थानक वाले साधु किस प्रकार वंदन पूजन कर सकते हैं ?

उत्तर—प्रथम तो मूर्ति को एकेन्द्रिय कहने वाला व्यक्ति जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ ही है। खान में से खोदकर अलग निकाला हुआ पत्थर शस्त्रादि लगने से सचित्त नहीं रहता, ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। अचेतन वस्तु में गुणस्थानक नहीं होता है। अब यदि गुणस्थानक रहित वस्तु को मानने से इन्कार करोगे तो महादोष के भागी बनोगे क्योंकि सिद्ध भगवान् सर्वथा गुणस्थानक रहित हैं, फिर भी श्री अरिहंतदेव के पश्चात् सबसे प्रथम स्थान पर पूजने योग्य हैं। गुणस्थानक संसारी जीवों के लिये हैं, सिद्ध के जीवों के लिये नहीं।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार मूर्ति को गुणस्थानक नहीं उसी प्रकार कागज आदि से बनी पुस्तकों का भी अपना कोई गुणस्थानक नहीं है। फिर भी प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने ग्रन्थों का बहुत आदर करते हैं, ऊँचे आसन पर रखते हैं तथा मस्तक पर चढ़ाते हैं। उसकी सभी प्रकार की आशातनाएँ वर्जित हैं। थूंक के छांटे या पैर से ठोकर लगना भी महादोष रूप गिना जाता है। विश्व में ऐसा कोई धर्म नहीं है, कि अपने इष्टदेव की वाणी रूप शास्त्र को मस्तक पर नहीं चढ़ाता हो तथा उसका खूब आदर-सम्मान न करते हो।

श्री जैन सिद्धांत के श्री **भगवती सूत्र** में भी 'नमो बंभीए लिवीए' कह कर श्री गणधर भगवंतों ने अक्षर रूपी ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है तो इसमें कौनसा गुणस्थानक था? मृतक साधु का शरीर भी अचेतन होने से गुणस्थानक रहित है, फिर भी लोग दूसरे काम छोड़कर उनके दर्शन के लिये दौड़ कर जाते हैं, तथा उस मृत देह को बड़ी धूमधाम से चंदन की चिता में जलाते हैं। इस कार्य को गुरु-भक्ति का कार्य कहेंगे कि नहीं? यदि इसे गुरु-भक्ति कह सकते हैं, तो प्रतिमा के वंदन पूजन आदि को जिन भक्ति का कार्य क्यों नहीं कहते सकते हैं?

प्रश्न १२—मूर्ति तो पत्थर की है, उसकी पूजा से क्या फल मिलेगा? मूर्ति के आगे की गई स्तुति क्या मूर्ति सुन सकती है?

उत्तर—लोगों को पथ भ्रष्ट करने के लिये इस प्रकार के प्रश्न मूर्ति पूजा के विरोधी वर्ग की ओर से खड़े करने में आते हैं, परन्तु उसके पीछे घोर अज्ञान एवं कुटिलता छिपी हुई है।

मूर्ति पूजक लोग यदि पत्थर को ही पूजते होते तो स्तुति भी वे पत्थर को ही करते कि 'हे पत्थर! हे अमूल्य पत्थर! तू अनमोल तथा उपयोगी है। तेरी शोभा अपार है। तू स्थान विशेष की खान में से निकला है। तुझे खान में से निकालने वाले कारीगर बहुत कुशल हैं। हम तेरी स्तुति करते हैं, पर इस प्रकार पत्थर के गुणगान कोई नहीं करता पर सभी लोग पत्थर की मूर्ति में आरोपित श्री वीतरागदेव की स्तुति करते ही नज़र आते हैं कि, हे निरंजन! निराकार! निर्मोही! निराकांक्षी! अजर! अमर! अकलंक! सिद्धस्वरूपी! सर्वज्ञ! वीतराग! आदि गुणों द्वारा गुणवान परमात्मा की ही सभी स्तुति करते हैं।

क्या पत्थर में ये गुण हैं कि जो पत्थर की उपासना का झूठा दोष लगाकर लोगों को गलत दिशा में ले जाने का प्रयास किया जा रहा है?

जब पूजक व्यक्ति मूर्ति में पूजा योग्य गुणों को आरोपित करता है, तब उसे मूर्ति साक्षात वीतराग ही प्रतिभासित होती है। वह जिस भाव से मूर्ति को देखता है उसे वह वैसा ही फल देती है। साक्षात् भगवान् तरण-तारण हैं, फिर भी उनकी आशातना करने वालों को बुरा फल मिलता है। उसी भाँति मूर्ति भी तारक होते हुए भी उसकी आशातना करने वाले उसके बुरे फल भोगते हैं।

शंका—मूर्ति को भगवान् कैसे माना जाय? क्या रूखी सूखी रोटी का मिठाई मान लेने से वह मिठाई बन जाती है?

समाधान—संतोषी तथा शुभ परिणामी जीवों को तो जो संतोष मिठाई से प्राप्त हो सकता है, उतना ही संतोष रूखी रोटी

से भी प्राप्त हो सकता है। दूसरी ओर असंतोषी एवं अशुभ-परिणामी जीवों को तो मिठाई भी अधिक लाभ नहीं पहुँचाती तो रूखी रोटी से तो उनका क्या काम बनने वाला है। दृष्टांत का अभिप्राय यह है कि शुभपरिणामी जीव मूर्ति से भी साक्षात् भगवान् के दर्शन जैसा ही लाभ उठा सकते हैं, जबकि दुष्ट परिणामी जीव साक्षात् परमात्मा के दर्शन से भी अशुभ कर्म बाँधते हैं तथा अमृत को भी विष करके अपनाते हैं।

दो घड़ी पूर्व के सामान्य साधु को आचार्य पद प्रदान करने के साथ ही अन्य साधु तथा श्रावक छत्तीस गुणों का आरोपण कर उनकी वंदना करते हैं तथा किसी भी व्यक्ति के पूर्व में गृहस्थ होते हुए भी दीक्षा लेते ही उसमें साधु के सत्ताईस गुणों का आरोपण कर उनको वंदन नमस्कार किया जाता है। जिस प्रकार आरोपित अवस्था में कोई आचार्य तथा साधु क्रम से आचार्य तथा साधु के रूप में पूजनीक बन जाते है उसी प्रकार मूर्ति में भी अंजनशलाका और प्रतिष्ठा हो जाने के बाद उसमें अरिहंत के समान पूजनीयता उत्पन्न हो जाती है।

'मूर्ति स्तुति को सुनती है या नहीं' ? यह प्रश्न ही अयोग्य है, क्योंकि पत्थर रूप मूर्ति के गुण गान करने में नहीं आते हैं, जिसकी वह मूर्ति है, उस देव की स्तुति तथा प्रार्थना की जाती है। वह देव ज्ञानी होने के नाते सेवक की स्तुति आदि को पूरी तरह जान सकते हैं। अतः मूर्ति के सामने स्तुति करना भी उचित है।

प्रश्न १३—श्री जिनप्रतिमा की स्तुति करने की सर्वोत्तम विधि क्या हैं ?

उत्तर—प्रतिमा में भगवान् के नाम तथा गुणों का आरोपण कर उसके समक्ष भगवान् की स्तुति करना, यह सर्वोत्तम विधि

है। जैसे अपने पूर्वजों का चित्र देखकर सभी उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे सुनकर चित्त प्रसन्न होता है तथा पूर्वजों को आदर मिलता हो, ऐसा प्रतिभास होता है वैसे ही भगवंत की प्रतिमा का आदर करने से भगवान् का ही आदर होता है, ऐसा लगना चाहिये।

भगवान को आदर देने की इच्छा जगी, यह भी परमशुभ अध्यवसाय का लक्षण है और उससे जीव भारी पुण्य उपार्जित करता है। गृहस्थाश्रम भोगने वाले श्रावकों के लिये भगवान् का गुणगान करने हेतु अनुकूल स्थान श्री जिनमंदिर को छोड़कर अन्य कोई नहीं है।

भगवान् के गुणों का स्मरण तथा ध्यान करने के लिये श्री जिन मंदिर में जिन प्रतिमा की स्थापना की गई है। उसके दर्शन के साथ ही भगवान् के गुण याद आते हैं।

श्री जिन मूर्ति की मुखाकृति देखकर विचार पैदा होता है, 'अहो! यह मुख कितना सुन्दर है कि जिसके द्वारा किसी के लिये भी अपशब्द नहीं बोला गया तथा जिससे कभी हिंसक, कठोर अथवा कड़वे वचन नहीं निकले। उसमें रही जीभ से रसनेन्द्रिय के विषयों का कभी भी राग द्वेष से सेवन नहीं किया गया परन्तु उस मुख द्वारा धर्मोपदेश देकर अनेक भव्य जीवों को इस संसार सागर से पार उतारा गया है, इसलिये वह मुख हजारों बार धन्यवाद का पात्र है।'

'भगवान् की नासिका द्वारा सुगंध या दुर्गंध रूप घ्राणेंद्रिय के विषयों का राग अथवा द्वेष पूर्वक उपभोग नहीं किया गया'

'इन चक्षुओं द्वारा पाँच वर्ण रूप विषयों का पल भर के लिये भी राग अथवा द्वेष पूर्वक उपभोग नहीं किया गया।

किसी भी स्त्री की ओर मोह दृष्टि से अथवा किसी शत्रु की ओर द्वेष दृष्टि से देखा नहीं गया; केवल वस्तुस्वभाव तथा कर्म की विचित्रता का विचार कर भगवान् के नेत्र सदा समभाव में रहते हैं। ऐसे भगवान् के नेत्रों को कोटिशः धन्य हैं।'

'इन दोनों कानों के द्वारा विचित्र प्रकार की राग रागनियों का राग पूर्वक श्रवण नहीं किया गया परन्तु इन्होंने मधुर या कटु, अच्छे या बुरे जैसे भी शब्द कान में पड़े, उनको राग-द्वेष रहित होकर सुने हैं।'

'इस शरीर को किसी जीव की हिंसा अथवा अदत्त-ग्रहण आदि का दोष नहीं लगा। उसका उपयोग केवल जीवरक्षा निमित्त तथा सभी को सुख मिले, उसी ढंग से हुआ है। इस देह से गाँव गाँव विहार कर अनेक जीवों के सांसारिक बंधनों को तोड़ा है, तथा सभी कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान या केवल-दर्शन को प्रकट किया है।'

'ऐसे प्रभु अनुपम उपकारी तथा सम्पूर्ण जगत् के अकारण बन्धु होने से उनको असंख्य बार धन्यवाद है। इनकी यथाशक्ति भक्ति करना, यह मेरा परम कर्तव्य है।'

प्रभु की शांत मुद्रा को देखकर ऐसी शुभ भावना अंतःकरण में उत्पन्न होती है। उत्तम जीव, निःस्वार्थ प्रेमी ऐसे परमात्मा की जल, चन्दन, केसर, बरास, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, फल, नैवेद्य आदि से पूजा करते हैं, बहुमूल्य आभूषण चढ़ाते हैं, इनकी भक्ति में यथाशक्ति धन खर्च करते हैं और सोचते हैं कि 'यदि मैं प्रभु की भक्ति करूंगा तो, मैं स्वयं तिरने के साथ अन्यों को तिराने में भी निमित्त बनूँगा क्योंकि मेरी भक्ति देखकर दूसरे लोग उसका अनुकरण करेंगे तथा अनेक भव्य पुरुष भगवान् की सेवा करने में तत्पर होंगे और मैं उसमें निमित्त बनूँगा।'

द्रव्य पूजा समाप्ति के पश्चात् भावपूजा करते समय भक्त भगवान् के गुणों का स्मरण कर अपनी आत्मा के साथ उनकी तुलना करता है कि, 'अहो! प्रभु वैरागी हैं और मैं रागी हूँ; प्रभु द्वेष रहित हैं और मैं द्वेष पूर्ण हूँ; प्रभु क्रोध रहित हैं और मैं क्रोधी हूँ; प्रभु निष्काम हैं और मैं कामी हूँ; प्रभु निर्विषयी हैं और मैं विषयी हूँ; प्रभु मान रहित हैं और मैं मानी हूँ; प्रभु माया से परे हैं और मैं मायावी हूँ; प्रभु निर्लोभी हैं और मैं लोभी हूँ; प्रभु आत्मानंदी हैं और मैं पुद्गलानंदी हूँ; प्रभु अतीन्द्रिय सुख के भोगी हैं और मैं विषय सुख का भोगी हूँ; प्रभु स्वभावी हैं और मैं विभावी हूँ; प्रभु अजर हैं और मैं सजर हूँ; प्रभु अक्षय हैं और मैं क्षय को प्राप्त होते रहने वाला हूँ; प्रभु अशरीरी हैं और मैं सशरीरी हूँ; प्रभु अनिंदक हैं और मैं निंदक हूँ; प्रभु अचल हैं और मैं चंचल हूँ; प्रभु अमर हैं और मैं मरणशील हूँ; प्रभु निद्रा रहित हैं और मैं निद्रा सहित हूँ; प्रभु निर्मोही हैं और मैं मोहवाला हूँ; प्रभु हास्य रहित हैं और मैं हास्य सहित हूँ; प्रभु रति रहित हैं और मैं रति सहित हूँ; प्रभु शोक रहित और मैं शोक सहित हूँ; प्रभु भय रहित हैं और मैं भयभीत हूँ; प्रभु अरति रहित हैं और मैं अरति सहित हूँ; प्रभु निर्वेदी हैं और मैं सवेदी हूँ; प्रभु क्लेश रहित हैं और मैं क्लेश सहित हूँ; प्रभु अहिंसक हैं और मैं हिंसक हूँ; प्रभु वचन-रहित हैं और मैं मृषावादी हूँ; प्रभु प्रमाद रहित हैं और मैं प्रमादी हूँ; प्रभु आशा रहित हैं और मैं आशावान हूँ; प्रभु सभी जीवों को सुख देने वाले हैं और मैं अनेक जीवों को दुःख देने वाला हूँ; प्रभु वंचना रहित हैं और मैं वंचक हूँ; प्रभु आश्रव रहित हैं और मैं आश्रव सहित हूँ; प्रभु निष्पाप हैं और मैं पापी हूँ; प्रभु कर्म रहित हैं और मैं कर्म सहित हूँ; प्रभु सभी

के विश्वासपात्र हैं और मैं अविश्वासपात्र हूँ; प्रभु परमात्मपद को पहुँचे हुए हैं और मैं बहिरात्मभाव में घूम रहा हूँ ! आदि ।

इस प्रकार प्रभु तो अनेक गुणों से परिपूर्ण हैं और मैं सब प्रकार के दुर्गुणों से परिपूर्ण हूँ । इसी कारण मैं इस संसार रूपी अटवी में अनंतकाल से भटक रहा हूँ । आज मेरे भाग्योदय से मुझे भगवान् की मूर्ति के दर्शन हुए तथा उसके आलंबन से मुझे प्रभु के गुणों का तथा मेरे अवगुणों का स्मरण हुआ; प्रभु के गुण तथा मेरे अवगुण समझ में आये । अब मैं अपने दुर्गुणों को छोड़ने का प्रयत्न करूँ तथा जो मार्ग भगवान् ने बतलाया है उसका अनुसरण करूँ, सुख एवं कल्याण के लिये जैसा व्यवहार करने का उन्होंने फरमाया है वैसा ही व्यवहार मैं करूँ ।

इस प्रकार की शुभ भावना से स्तुति करते हुए जीव अपने अशुभ तथा क्लिष्ट कर्मों का नाश करते हैं; इससे समकित की शुद्धि होती है और परंपरागत मोक्ष के अनंत सुखों की प्राप्ति होती है ।

श्री जिनप्रतिमा की पूजा तथा स्तुति से इस प्रकार के साक्षात् तथा परम्परागत अनेक लाभ होने से प्रत्येक भव्य आत्मा को जिन-प्रतिमा का प्रयत्न पूर्वक अत्यन्त आदर करना चाहिये ।

प्रश्न १४–पूजा और प्रतिष्ठा महा मंगलकारी हैं, तो फिर मूर्ति की प्रतिष्ठा में शुभाशुभ मुहूर्त देखने का क्या प्रयोजन ?

उत्तर–किसी योग्य शिष्य को जब दीक्षा देनी होती है तब शुभ मुहूर्त क्यों देखा जाता है ? क्या दीक्षा अमंगलकारी है कि जिसके लिये शुभ मुहूर्त की आवश्यकता होती है ? शुभ नक्षत्र तथा शुभ ग्रह शुभ सूचक हैं व अशुभ ग्रह तथा अशुभ नक्षत्र अशुभ सूचक हैं; अतः प्रत्येक शुभ कार्य में शुभ मुहूर्त देखने की आवश्यकता है ।

भगवान् स्वयं तो वीतराग हैं और उनकी मूर्ति भी सभी जीवों का भला करने वाली है फिर भी कोई दुष्ट आत्मा उनकी आशातना, निंदा अथवा आज्ञा का उल्लंघन करे और परिणाम-स्वरूप उसका अहित हो तो उसमें भगवान् या मूर्ति का दोष नहीं।

शास्त्रकारों के आदेशानुसार सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, तप, जप, नियम, ध्यान आदि प्रत्येक क्रिया विधिवत् करने से लाभ करती है तथा प्रतिकूल रूप से व्यवहार करने पर हानि करती है। यही बात मूर्ति की प्रतिष्ठा के विषय में भी समझनी चाहिए।

शास्त्राभ्यास भी असमय और अविधि से करने की मनाई है। उसी भाँति मूर्तिपूजा आदि समस्त लाभकारी क्रियाएँ जिस मात्रा में भावपूर्वक तथा विधि सम्मान पूर्वक करने में आती हैं, उतनी ही मात्रा में फलदायी होती हैं। मुनिराज सदा सबके हितकारी होते हुए भी जिस भाव से उनकी ओर देखा जाता है, उसी प्रकार का फल जीव प्राप्त करते हैं।

जैसे किसी महासती साध्वी को रूपवान देखकर किसी विषयी पुरुष को काम विकार उत्पन्न हो जाय अथवा सुन्दर ब्रह्मचारी को देखकर कोई दुष्ट स्त्री उस पर मोहित हो जाय तो क्या इससे वह साधु या साध्वी अवंदनीय हो जायेगी? उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् श्री मल्लीनाथजी को स्त्री-रूप प्रतिमा देखकर छः राजा कामातुर हो गये। तो क्या इससे भगवान् श्री मल्लीनाथजी की महिमा समाप्त हो गई? कामी-जनों के मोहनीय कर्म के उदय से उनकी खराब गति होती है, उसका कारण उनके स्वयं के क्लिष्ट कर्म हैं, न कि वे महापुरुष।

'अनार्य लोगों को श्री जिनमूर्ति से कहाँ लाभ होता है?'

ऐसा प्रश्न करने वाले को समझना चाहिये कि, जिसने सत्य-देव के यथार्थ स्वरूप को नहीं जाना और उनकी प्रतिमा को अपने इष्टदेव के रूप में स्वीकार नहीं किया ऐसी आत्माओं को श्री जिनमूर्ति से लाभ न हो तो उसका कारण उनकी अयोग्यता है। जो परमात्मा के स्वरूप को वास्तविक रूप से जान पहचान कर परमात्मा की प्रतिमा को वंदन, पूजन करते हैं, उनको आर्द्रकुमार की भाँति अवश्य शुभध्यान उत्पन्न होता है तथा अचिंत्य लाभ मिलता है, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं।

प्रश्न १५–श्री जिनप्रतिमा को यदि कोई अन्य धर्मावलम्बी अपने मंदिर में स्थापित करे तो वह वन्दनीय गिनी जायगी कि नहीं ?

उत्तर–अन्य मत वालों द्वारा ग्रहण की हुई तथा स्वयं के देवरूप में स्वीकार की गई श्री जिनमूर्ति को श्रावक नहीं नमेगा क्योंकि वे लोग उस मूर्ति को अपने इष्टदेव के रूप में मान कर अपने मन की विधि के अनुसार उसकी पूजा करेंगे तथा वह विधि जैनों को मान्य नहीं होगी; अतः जहाँ विधिवत पूजा नहीं होती हो ऐसी अन्यमतावलबियों द्वारा ग्रहण की हुई जिन प्रतिमाओं को मानने, पूजने का शास्त्रों में निषेध किया है।

शास्त्रों के विषय में ऐसा नियम है कि,–'सम्यग् दृष्टि से ग्रहण किया हुआ मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत है, तथा मिथ्या-दृष्टि से ग्रहण किया हुआ सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत हैं। वही नियम श्री जिनमूर्ति को लागू पड़ता है। अन्य धर्मा-वलम्बियों द्वारा ग्रहण की हुई प्रतिमाओं में से प्रतिमापन चला नहीं जाता तब भी अविधिपूजन के कारण तथा अन्य जीवों के मिथ्यात्व की वृद्धि में कारण-भूत होने से सम्यग्दृष्टि आत्माओं ने उन प्रतिमाओं के पूजन को त्याज्य बताया है।

यहाँ किसी के मन में प्रश्न उठता है कि, 'जिनमूर्ति की भाँति साधु यदि मिथ्यात्वी के मठ में उतरे तो वह पूजनीय है या नहीं ?' तो उसका उत्तर यह है कि अन्यतीर्थी के मकान में उतरने मात्र से उसका साधुपन चला नहीं जाता। जब तक अपना लिंग और क्रिया छोड़कर अन्य लिंगी अथवा अन्य लिंग की क्रिया करने वाला नहीं हो जाता तब तक वह साधु, साधु की तरह पूजने योग्य है। श्री जिनप्रतिमा के लिये ऐसी बात नहीं है क्योंकि अन्य मत वालों द्वारा ग्रहण की हुई श्री जिन प्रतिमा के पूजन की विधि, वे श्री जिनमत के अनुसार नहीं करते पर अपने शास्त्रानुसार करते हैं, ऐसी विपरीत विधि को मान्यता देने से प्रत्यक्ष रूप से मिथ्यात्व की वृद्धि होती है।

प्रश्न १६–यदि सम्मग्दृष्टि के हाथ में रहने वाले मिथ्यादृष्टि के शास्त्र सम्यक्श्रुत बन जाते हों तो वेद, कुरान, बाइबल आदि सभी धर्मग्रन्थ क्या वंदनीय नहीं बन जायेंगे ?

उत्तर–सम्यग्दृष्टि के हाथ में रहने वाले नहीं, पर हृदय में रहते हुए शास्त्र, सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिये सम्यक्श्रुत बन जाते हैं। यह प्रभाव उन मिथ्यादृष्टि के शास्त्रों का नहीं, पर सम्यग्दृष्टि के विवेकशील हृदय का है। निरपेक्ष वाणी मिथ्या होते हुए भी उसे सापेक्ष रूप से विचार करने वाला उसमें से सम्यक् विचारों को ही ग्रहण करता है।

श्री नंदीसूत्र में अक्षर को श्रुतज्ञान कहा है जिससे कुरान आदि में अक्षर रूप जो ज्ञान है वह अवश्य वंदनीय है परन्तु उसका भावार्थ वंदनीय नहीं है।

कई जिनवाणी को भावश्रुत कहते हैं तथा अन्य धर्मों के शास्त्रों को द्रव्यश्रुत कहते हैं, पर यह गलत है। श्री नंदीसूत्र में

श्री जिनवाणी को द्रव्यश्रुत तथा उसके भावार्थ को भावश्रुत कहा है। श्री गणधर भगवंतों ने 'नमो सुग्रदेवयाए' कहकर, श्री जिनवाणी रूप द्रव्यश्रुत को वंदन करने का पाठ श्री भगवतीसूत्र में है तथा उसी सूत्र में "नमो बंभिलिविए" कह कर ब्राह्मी लिपि को भी नमस्कार किया है।

श्री जिनवाणी भाषावर्गणा के पुद्गल होने से द्रव्य है, तथा ब्राह्मी लिपि भी अक्षर रूप होने से द्रव्य है। इसलिये शास्त्रों में कहे हुए अक्षर द्रव्यश्रुत हैं और वे भी वंदनीय हैं, तथा मिथ्याशास्त्रों में रहे हुए अक्षर भी द्रव्यश्रुत रूप में वंदनीय हैं। मिथ्यादृष्टि से ग्रहण किया हुआ उनका भावार्थ मिथ्या होने से वंदनीय नहीं है पर सम्यग्दृष्टि से ग्रहण किया हुआ, उनका भावार्थ सम्यग् होने से वंदनीय है।

प्रश्न १७—प्रभु के नाम को स्वीकार करें, परन्तु उनकी आकृति को नहीं मानें तो क्या यह चल सकता है?

उत्तर—अपने इष्टदेव, गुरु के नाम को मानकर जो उस नाम वाली आकृति को नहीं मानते हैं, वे एक दृष्टि से अपने देव, गुरु का अनादर कर घोर पाप करते हैं। जब दो अक्षर के नाममात्र से देव, गुरु के स्वरूप के बोध होते से कल्याण हो तो उसी के समान आकारवाली प्रतिमा से दुगुना लाभ क्यों नहीं होगा? समझना तो यह चाहिये कि अकेली आत्मा अरुपी, अविनाशी तथा निरंजन होने से उसका नाम निशान देह के आश्रित ही होता है। जिसका नाम है, उसकी आकृति भी होनी ही चाहिये। जिसकी आकृति नहीं होती, ऐसी निराकार वस्तु का नाम भी नहीं होता है। शास्त्रों में अरूपी आकाश का भी आकार माना गया है।

इससे स्पष्ट होता है कि, आकार हीन वस्तु, कोई वस्तु नहीं है। नाम एवं आकृति द्वारा गुण का बोध होता है। नाम के साथ आकृति लगी ही होती है। इससे जहाँ तक नाम मानने की आवश्यकता स्वीकृत है, वहाँ तक आकृति मानने की आवश्यकता भी स्वीकार की हुई है। आकृतिं मानने की आवश्यकता तभी छूट सकती है जब नाम मानने की आवश्यकता भी छूट गई हो।

'नाम गुण का होता है पर आकार का नहीं', ऐसा कहने वाले को सोचना चाहिये कि, गुण से तो श्री ऋषभदेव और वर्धमान स्वामी समान हैं फिर; श्री वर्धमान स्वामी का नाम लेते ही भगवान् ऋभदेव क्यों याद नहीं आते' ? यदि गुण का नाम 'महावीर' या 'वर्धमान' होता तो इस गुण वाले सभी व्यक्ति इन नामों के साथ ही याद आ जाने चाहिये। परन्तु 'महावीर' अथवा 'वर्धमान' नाम लेने से केवल भगवान् 'महावीर' याद आते हैं, इसका क्या कारण है ?

इसका कारण एक ही है कि, 'महावीर' नाम केवल उनके गुण का ही नहीं पर आकार का भी है। भगवान् 'महावीर' का आकार और भगवान् 'ऋषभदेव' का आकार एक नहीं है, इसीलिये एक का नाम लेते समय दूसरे याद नहीं आते हैं।

इससे मानना पड़ेगा कि नाम गुण प्रधान नहीं पर आकार ही प्रधान होता है। इसके उपरान्त भी जो नाम मानकर भी आकार को मानने से इन्कार करते हैं, वे मूर्ख हैं। जहाँ आकृति नहीं, वहाँ नाम नहीं और जहाँ नाम नहीं, वहाँ आकृति नहीं इस प्रकार दोनों का पारस्परिक संबंध है। पर नाम तथा गुण में ऐसा पारस्परिक संबंध नहीं है। अतः नाम और उसके

स्मरण का फल मानने वाले को आकार तथा उसकी भक्ति का फल भी अवश्य मानना ही चाहिये।

प्रश्न १८—वस्तु की अनुपस्थिति में उसके यथार्थ स्वरूप को जानने के उपाय को ही क्या आकार कहते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक अनुपस्थित वस्तु का यथार्थ स्वरूप केवल उसके नाम द्वारा नहीं जाना जा सकता परन्तु आकार द्वारा ही जाना जा सकता है। सिंह या बाघ का नाम जानकर कोई जंगल में जाये तो, नाम मात्र की जानकारी से वह सिंह या बाघ को नहीं पहचान सकता है। उनकी पहचान के लिये नाम के साथ २ आकार का ज्ञान भी आवश्यक है।

इस कारण अनुपस्थित वस्तु का बोध करवाने के लिये अकेला नाम समर्थ नहीं हो सकता। साथ ही आकृति ज्ञात हो, पर नाम मालूम न हो तो उस वस्तु का बोध होना तो सर्वथा अशक्य है। अर्थात् बोधक शक्ति नाम की अपेक्षा आकार में विशेष रूप से है।

प्रश्न १९—क्या जड़ को चेतन की उपमा दी जा सकती है ?

उत्तर—वस्तु के धर्म अनंत हैं। प्रत्येक धर्म के कारण वस्तु को, भिन्न २ अनंत उपमाएँ दी जा सकती हैं। एक लकड़ी पर बालक सवारी करता है तब लकड़ी जड़ होते हुए भी उसे चेतन घोड़े की उपमा दी जाती है। पुस्तक अचेतन होते हुए भी उसे ज्ञान या विद्या की उपमा दी जाती है।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान तथा धर्म, ये आत्मिक वस्तुएँ होते हुए भी, उन्हें कल्पवृक्ष एवं चिंतामणि रत्न की उपमा दी जाती है। वस्तु के अनंत गुणों में से कोई भी गुण लेकर

उसके द्वारा जो २ कार्य सिद्ध होता है उस २ प्रकार की उपमा देने का व्यवहार विश्व प्रसिद्ध है।

परमात्मा की मूर्ति से परमात्मा का ज्ञान होता है, इससे उस मूर्ति को भी परमात्मा कहा जा सकता है। पाँचसौ रुपये की हुंडी या नोट को पाँचसौ रुपया ही कहते हैं। वास्तविक रीति से देखने पर रुपये तो चाँदी के टुकड़े हैं व नोट, हुंडी आदि कागज और स्याही के स्वरूप हैं, परन्तु दोनों से काम एक समान निकलता है और इसीलिये दोनों को रुपये ही कहा जाता है, वैसे ही परमात्मा की मूर्ति भी परमात्मा का बोध कराने वाली होने से उसे भी परमात्मा की उपमा दी जा सकती है।

प्रश्न २०—आत्मा की उन्नति के लिये पंचेन्द्रिय साधु का अवलंबन स्वीकार करना अच्छा है या एकेन्द्रिय पाषाण की मूर्ति का ?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि मूर्ति अचेतन होने से एकेन्द्रिय नहीं है। साधु का अवलंबन साधु के शरीर के कारण नहीं, किन्तु उस शरीर को आश्रय देकर रहने वाले साधु के उत्तम सत्ताईस गुणों का है। जो ऐसा न हो तो शरीर तो अचेतन है। उसके अवलंबन से क्या लाभ होने का है ? मूर्ति भी पत्थर की होते हुए भी उसकी पूजा करते समय पाषण का अवलंबन नहीं लिया जाता, पर जिसकी वह मूर्ति है, उस परमात्मा का तथा उस परमात्मा में रहने वाले अनंत गुणों का ही अवलंवन लिया जाता है। इस दृष्टि से साधु के अवलंबन से भी परमात्मा की मूर्ति का अवलंबन चढ़ जाता है, इससे श्री जिनाज्ञानुसार उसको स्वीकार करने वाला विशेष आत्म कल्याण कर सकता है।

प्रश्न २१—पाषाण की मूर्ति में प्रभु के गुणों का आरोपण किस प्रकार होता है ?

उत्तर—जिस प्रकार सन आदि हल्की वस्तुओं को स्वच्छ कर उसके सफेद कागज़ बनते हैं और उन कागज़ों पर प्रभु की वाणी रूप शास्त्र लिखे जाते हैं, तब तमाम धर्मों के लोग उन शास्त्रों को भगवान् की तरह पूजनीय मानते हैं। उसी तरह खान के पत्थर से मूर्ति बनती है और उस मूर्ति में गुरुजन सूरिमंत्र के जाप द्वारा प्रभु के गुणों का आरोपण करते हैं, तब वह मूर्ति भी प्रभु के समान पूजनीय बन जाती है।

किसी गृहस्थ को दीक्षा देते समय गुरु उसे दीक्षा का मंत्र (करेमि भंते सूत्र) सुनाते हैं और शीघ्र ही लोग उसे साधु मानकर वंदना करते हैं। यद्यपि उस समय उस नवदीक्षित साधु में साधु के सत्ताईस गुण प्रकट हो गये हों, ऐसा कोई नियम नहीं है; फिर भी उन गुणों का उसमें आरोपण कर उसकी वंदना होती है। वैसे ही मूर्ति भी गुणारोपण के बाद प्रभु समान वंदनीय बनती है जिससे लोग उसकी वंदना, पूजा करते हैं, तथा उसको नमस्कारादि करते हैं, यह सर्वथा उचित है।

प्रश्न २२—क्या सदाकाल प्रभुमूर्ति को मानते ही रहना चाहिये ?

उत्तर—हाँ ! जहाँ तक आत्मा प्रमादी और विस्मरण-शील है तब तक उसे प्रभु गुणों के स्मरणादि हेतु प्रभुमूर्ति को मानना ही चाहिये।

ज्ञानाभ्यास में विस्मृति के भय से जिन्हें अचेतन पुस्तकों का सहारा लेना पड़ता है, प्रभु का जाप करते भूल हो जाने के भय से जिन्हें अचेतन जपमाला का आश्रय लेना पड़ता है, चारित्र के

परिणाम से पतित हो जाने के भय से जिन्हें रजोहरण, मुहपत्ति आदि का आश्रय लेना पड़ता है, सर्दी, गर्मी और वर्षा के भय से जिन्हें अचेतन वस्त्र तथा मकान आदि का सहारा लेना पड़ता है तथा हिंसक पशु पक्षी अथवा डाकू आदि के भय से जिन्हें शस्त्र इत्यादि की शरण खोजनी पड़ती है, उन्हें तब तक प्रभुगुण की स्मृति के लिये अचेतन मूर्ति का आलंबन लिये बिना छुटकारा नहीं।

दूसरे सभी अचेतन आलंबनों को स्वीकार करते हुए भी अचेतन के नाम पर केवल परमात्मा की मूर्ति के आलंबन को; मानने का इन्कार करते हैं; उनके लिये तो परमात्मा के ध्यान की किमत, सांसारिक वस्तु जितनी भी नहीं, ऐसा ही कहा जा सकता है।

पुस्तकादि के आलंबन बिना ज्ञानाभ्यास में चूक जाने वाले लोग मूर्ति आदि के आलंबन के अभाव में परमात्म-ध्यान से नहीं चूकेंगे, ऐसा कैसे मान लिया जाय ? परमात्म-ध्यान से हटाने वाली प्रतिपक्षी वस्तुओं के संसर्ग से जो मुक्त नहीं, वे मूर्ति के आलंबन बिना परमात्मा के ध्यान से चूके बिना रह ही नहीं सकते, पर परमात्मा के ध्यान से जीव के चूक जाने पर उसका कितना नुकसान होता है, यह सर्व सामान्य जगत् के ख्याल में नहीं होता। इसीलिये परमात्म—मूर्ति के आलंबन के लिए कोई कुतर्क करे तो तुरन्त मन चल—विचल बन जाता है।

किन्तु शास्त्र कहते हैं कि संसार के अन्य कार्य भूल जाने पर जीव को इतना नुकसान उठाना नहीं पड़ता जितना परमात्म-ध्यान से चूक जाने पर ! ऐसे अनन्यः प्रतिबोधक आलंबन का इस जगत् में अभाव हो जाय तो, जीव आर्त्त रौद्र ध्यान में चढ़कर अनंत संसार को बढ़ाने वाला बनता है।

कोई भी व्यक्ति यदि अपने जीवन भर की कमाई को ताले बिना की तिजोरी में रक्खे तो कभी न कभी चोर उसे लूटे बिना रहेंगे नहीं। वैसे ही आत्मा रूपी तिजोरी में एकत्रित शुभध्यान रूपी अमूल्य धन को प्रतिमा के आलंबन रूपी ताला लगाकर सुरक्षित न बनाया जाय तो प्रमाद रूपी चोरों द्वारा उसका नाश हुए बिना नहीं रहता।

इस प्रकार शुभध्यान रूपी धन का नाश होने पर आत्मा को अनंत संसार सागर में भटकना ही शेष रहता है। इसलिये जिनप्रतिमा का आलंबन प्रमादी जीवों के लिये पानी पहले पुल बाँधने के समान अत्यंत हितकारक है, अथवा जिस प्रकार बिना बाड़ के खेत की किसान कितनी ही रखवाली क्यों न करे, पशु-पक्षी उसमें प्रवेश कर अनाज का नाश किये बिना नहीं रहते, उसी प्रकार जिन प्रतिमा की आलंबन रूपी बाड़ बिना दुर्ध्यान रूपी पशु-पक्षी शुभध्यान रूपी पके हुए धान का नाश किये बिना नहीं रहते।

आत्मा अनादि काल से पुद्गल के विषय में आसक्त रहा है। उसे पुद्गल के संसर्ग की आसक्ति से मुक्त करने वाला शुभालंबन प्रतिमा के बिना दूसरा कोई नहीं है। उच्च कोटि के शुभालंबनों तथा ज्ञान ध्यान आदि द्वारा पुद्गल का राग छूट जाने पर, भूख की तृप्ति होते ही जैसे अनाज की तथा रोग की शांति होते ही जैसे दवा की इच्छा समाप्त हो जाती है, वैसे सभी प्रकार के आलंबन स्वतः ही छूट जाते हैं। पर उसके पहले संसार में लिप्त प्राणियों को शुभ आलंबन छोड़ देना हितकर नहीं है। जिस प्रकार साँप अपने आवरण का त्याग करता है वैसे ही ऊच्च भूमिका प्राप्त होते ही आलंबन स्वतः ही छूट जाते हैं।

प्रश्न २३—जड़ प्रतिमा मोक्षदायक कैसे हो सकती है ?

उत्तर—शास्त्र कि, जो स्याही और कागज़ रूप होने के कारण जड़ होते हुए भी, 'मोक्ष दिलाने वाले हैं', ऐसा सभी स्वीकार करते हैं, तो परमेश्वर की मूर्ति भी उसके आराधक को मोक्ष का सुख प्रदान क्यों न करे ? शास्त्र ईश्वरीय वचनों की प्रतिमा हैं; एवं मूर्ति भगवान् के आकार की प्रतिमा है। शब्दों की प्रतिमा से जिस प्रकार ज्ञान होता है, उसी प्रकार आकार की प्रतिमा से भव्य आत्माओं को ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता ही है।

प्रश्न २४—अक्षरों के आकार को देखने मात्र से ज्ञान होता है परन्तु मूर्ति को देखने मात्र से ज्ञान कहाँ होता है ?

उत्तर—अक्षराकार को देखने मात्र से ज्ञान होने की बात कहना ग़लत है। इस ज्ञान के पूर्व शिक्षक द्वारा उन अक्षरों को पहचानना पड़ता है।

अक्षरों को पहचानने के बाद ही पढ़ना या लिखना सीखा जा सकता है। इस प्रकार गुर्वादिक द्वारा—"यह देवाधिदेव श्री वीतराग की मूर्ति है। इनके अज्ञानादि दोषों का नाश हो चुका है। वे अनंत गुण वाले हैं। वे देवेन्द्रों से भी पूजित हैं, तत्त्वों का उपदेश देने वाले हैं, मोक्ष की प्राप्ति उन्हें हो चुकी है, संसार सागर से तिर चुके हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, दया के सागर हैं, परीषह तथा उपसर्गों की सेना को भगाने वाले हैं तथा रागादि से रहित हैं।" ऐसा ज्ञान जैसे जैसे होता जाता है, वैसे २ मूर्ति के दर्शनादि करते समय उन २ गुणों का ज्ञान तथा स्मरण दृढ़तर बनता जाता है।

प्रश्न २५—मूर्ति के दर्शन से देव का स्मरण होता है, यह बात बराबर है, पर उसकी भक्ति से क्या लाभ ?

उत्तर—शास्त्र के सुनने अथवा पढ़ने से परमेश्वर के वचनों का बोध होता है, तो भी शास्त्र का उपकार मानने वाले भक्त लोग उसे ऊँचे स्थान पर रखते हैं, पैर नहीं लगने देते, मल-मूत्रवाली अपवित्र जगह से दूर रखते हैं, अच्छे कपड़े में समेट कर सिंहासन पर रखते हैं तथा उसको वंदन-नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार शास्त्र की भक्ति करने से शास्त्र के वचनों पर प्रेम बढ़ता है, श्रद्धा सुदृढ़ होती है तथा सन्मार्ग पर चलने का बल प्राप्त होता है। इसी तरह प्रतिमा की भी वंदन-नमस्कार-पूजनादि द्वारा भक्ति करने से भगवान् पर प्रेम बढ़ता है, श्रद्धा सतेज होती है तथा गुण प्राप्ति की तरफ आगे बढ़ने के लिये आत्मा में उत्साह आता है। गुण प्राप्ति के उत्साह से शुभ ध्यान की वृद्धि होती है, शुभ ध्यान की वृद्धि से कर्म-रज का नाश होता है और ऐसा होने पर मोक्ष मार्ग अत्यंत सुगम हो जाता है !

प्रश्न २६—पत्थर की गाय को दुहने से जैसे दूध प्राप्त नहीं होता है, वैसे पत्थर की मूर्ति पूजने से भी क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि यहाँ गाय का दृष्टांत देना, अनुपयुक्त है। गाय के पास से दूध लेने का होता है, पर मूर्ति के पास से कुछ लेने का नहीं होता। गाय जैसे दूध देती है, वैसे मूर्ति कुछ नहीं देती है। पूजक स्वयं अपनी आत्मा में छिपे हुए वीतरागतादि गुणों को मूर्ति के आलंबन से प्रकट करता है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार पत्थर की गाय दूध नहीं देती वैसी सच्ची गाय भी, 'हे गाय ! तू दूध दे' ऐसा कहने मात्र से दूध नहीं देती है। तो फिर साक्षात् परमात्मा के नाम से या जाप से भी कार्य सिद्धि नहीं होनी चाहिये और परमात्मा का नाम भी नहीं लेना चाहिये। परन्तु जिस शुभ उद्देश्य से ईश्वर का नाम स्मरण किया जाता है, उसी शुभ उद्देश्य से परमात्मा की मूर्ति की उपासना भी कर्तव्य बन जाती है। परमात्मा का नाम लेने से जैसे अन्तःकरण की शुद्धि होती है वैसे ही परमात्म-मूर्ति के दर्शनादि से भी अन्तःकरण की शुद्धि होती ही है।

इसी तरह कई कहते हैं कि—'जिस प्रकार सिंह की मूर्ति आकर मारती नहीं है, वैसे ही भगवान् की मूर्ति भी आकर तारती नहीं, क्योंकि' सिंह ! सिंह !'—ऐसा नाम लेते ही क्या सिंह आकर मारता है? नहीं। तो फिर भगवान् का नाम लेना भी निरर्थक ही ठहरेगा। सिंह की मूर्ति नहीं मारती, इसका कारण यह है कि मारने में सिंह को स्वयं को प्रयत्न करना पड़ता है, मरने वाले को नहीं; जबकि भगवान् की मूर्ति द्वारा तिरने में मूर्ति को कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता है, किन्तु तरने वाले को करना पड़ता है।

मुक्ति की प्राप्ति हेतु व्रत, नियम, तपस्या, संयम आदि की आराधना व्यक्ति को करनी पड़ती है, परमात्मा को नहीं। परमात्मा के प्रयत्न से ही जो तिरने का होता तो परमात्मा तो अनेक शुभ क्रिया कर गये हैं फिर भी, उससे अन्य क्यों नहीं तिर गये? परन्तु वैसा होता नहीं है।

एक के खाने से जैसे दूसरे की भूख नहीं मिटती, वैसे भगवान् के प्रयत्न मात्र से भक्तजनों की मुक्ति नहीं हो जाती। उनकी

मुक्ति के लिये वे स्वयं ही प्रयत्न करें, तभी सिद्धि होती है। फिर भी भगवान् की मूर्ति के आलंबन से ही जीव को तप नियमादि करने का उल्लास होता है और उसी आधार पर 'भगवान् की मूर्ति तारती है', ऐसा कहने में किसी भी प्रकार की हरकत नहीं है।

इससे आगे बढ़कर सोचने पर—'पत्थर की गाय दूध देती ही नहीं'—ऐसा कहना भी गलत है। गाय के आँचल तथा उसकी दोहन क्रिया से अनभिज्ञ व्यक्ति को इसका ज्ञान देने के लिये भी गाय की आवश्यकता होती है और साक्षात् गाय के अभाव में उसको मूर्ति द्वारा दोहने की उस क्रिया का ज्ञान दिया जा सकता है। इस ज्ञान के अभाव में यदि प्रत्यक्ष रूप में गाय मिल भी जाय तो भी उससे दूध प्राप्त करने की आशा व्यर्थ है। इस कारण एक अपेक्षा से गाय की मूर्ति ही दूध देने वाली सिद्ध हुई, यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इसी तरह भगवान् के अभाव में भगवान् की भक्ति और उनके ध्यान के ज्ञान के लिये भगवान् की मूर्ति अवश्य जरूरी है। मूर्ति के अभाव में भक्ति एवं ध्यान करने का वास्तविक अनुष्ठान तथा विधि जानना संभव नहीं। ध्यान तथा भक्ति बिना मोक्ष प्राप्ति की इच्छा, वंध्या के पुत्र की तरह, वंध्या ही रहती है। इस तरह पत्थर की गाय जैसे दोहने की क्रिया सिखलाती है, वैसे ही पत्थर की मूर्ति भक्ति-ध्यानादि करना सिखाती है और उसके अनुष्ठान को जीवन में क्रियाशील बनाती है।

प्रश्न २७—परमात्मा के नाम मात्र से ही यदि उनके स्वरूप का बोध हो जाता हो तथा उससे अन्तःकरण की शुद्धि होती हो तो फिर उनकी प्रतिमा को पूजने का आग्रह किस लिये ?

उत्तर—प्रतिमा के दर्शन से जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी नाममात्र से कदापि नहीं हो सकती। नाम की अपेक्षा आकार में अधिक विशेषताएँ हैं। जैसा आकार देखने में आता है वैसे ही आकार संबंधी धर्म का चिन्तन मन में होता है।

संपूर्ण शुभ अवयवों की पत्थर की प्रतिमा देखकर उसी प्रकार का भाव उत्पन्न होता है। कोकशास्त्रानुसार स्त्री-पुरुषों के विषय सेवन संबंधी आसन आदि को देखकर देखने वाले कामी व्यक्ति को, तत्काल विकार उत्पन्न होता है। योगासनों की आकृतियों को देखने से योगी पुरुषों के योगाभ्यास में शीघ्र वृद्धि होती है।

भूगोल के अभ्यासी को नक्शा आदि देखने से वस्तुओं का ज्ञान आसानी से होता है। मकानों के प्लान देखने से उसके जानकारों को, उन वस्तुओं का तुरंत ध्यान आता है; केवल नाम मात्र से वह सारा ख्याल नहीं आ सकता। इसी प्रकार परमात्मा के नाम की अपेक्षा परमात्मा के आकार वाली मूर्ति से परमात्मा के स्वरूप का अधिक स्पष्ट बोध होता है। तथा परमात्मा का ध्यान करने के लिये आसानी पैदा हो जाती है।

वंदन-पूजन एवं आदर-सत्कार जिस ढंग से मूर्ति का हो सकता है, उस ढंग से नाम का नहीं हो सकता। मूर्ति की भक्ति में तीनों योग तथा अन्य सभी सामग्रियों की विशेषता ग्रहण की जा सकती है, जब कि नाम कीर्तनादि में वह सब नहीं हो सकता।

प्रश्न २८—निरालंबन ध्यान कब तक नहीं हो सकता?

उत्तर—श्री जैन शास्त्रों में मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने के लिये

चौदह सीढ़ियाँ रूपी चौदह गुणस्थानक वर्णित हैं। उनमें से प्रथम पाँच गुणस्थानक गृहस्थों के लिये हैं और शेष नौ गुणस्थानक साधुओं के लिये हैं। छट्ठे गुणस्थानक का नाम प्रमत्त तथा सातवें का नाम अप्रमत्त है। संपूर्ण आयुष्य के काल में, सातवें गुणस्थानक का काल गिना जावे, तो भी अन्तर मुहूर्त मात्र का ही है।

सात से ऊपर के गुणस्थानक इस काल में विद्यमान नहीं है। मुख्यतया प्रथम के छः गुणस्थानक इस काल के जीवों के लिए विद्यमान हैं। साधु के छठे गुणस्थानक में भी पांच प्रकार के प्रमाद संभव होने से निरालंबन ध्यान हो ही नहीं सकता। गृहस्थ तो अधिक से अधिक पांचवें गुणस्थानक तक ही पहुंच सकते हैं। वह तो अवश्य प्रमादी है। प्रमादी व्यक्तियों को निरालंबन ध्यान के लिये अयोग्य बताया है। श्री गुणस्थान क्रमारोह में पूज्यपाद श्री रत्नशेखर सूरीश्वर जी महाराजा ने फरमाया है कि–

"प्रमाद्यावश्यकत्यागात्, निश्चलंध्यानमाश्रयेत् ।"
योऽसौ नैवागमं जैनं, वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः ॥१॥

अर्थ—स्वयं प्रमादी होने पर भी जो अवश्यकरणीय का त्याग करता है तथा निश्चल जैसे निरालंबन ध्यान का आश्रय करता है, वह विपरीत ज्ञान से मूर्ख बना आत्मा, श्री सर्वज्ञ भगवान् के आगमों को नहीं जानता है!

इस काल में जीव सातवें गुणस्थानक से ऊँचा नहीं चढ़ सकते हैं और सातवें गुणस्थानक का समय तो बहुत थोड़ा है: अतः जीव को छट्ठा अथवा इससे उतरता गुणस्थानक होने से निरालंबन ध्यान सम्भव नहीं हो सकता है। इस काल के बड़े

और समर्थ पुरुष भी जब निरालंबन ध्यान का मनोरथ मात्र किया करते हैं, तो अल्प शक्ति वाले तथा विषय-वासना में डूबे रहने वाले व्यक्तियों के लिये तो निरालंबन ध्यान हो ही कैसे सकता है ?

प्रश्न २६—कोई विधवा अपने मृत पति की मूर्ति बना कर पूजा-सेवा करे तो क्या इससे उसकी काम शांति अथवा पुत्र प्राप्ति होती है ? नहीं होती तो फिर परमात्मा की मूर्ति से भी क्या लाभ होने वाला है ।

उत्तर–यह एक कुतर्क है । इसका उत्तर भी उसी प्रकार देना चाहिये । पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी स्त्री एक आसन पर बैठ कर हाथ में माला लेकर पति के नाम का जाप करे तो क्या उस स्त्री की इच्छा पूरी हो जायगी या उसे सन्तान प्राप्ति हो जायगी ? नहीं होगी । तो फिर प्रभु के नाम की जपमाला गिनना भी निरर्थक सिद्ध होगा । प्रभु के नाम से कुछ भी लाभ नहीं होता, ऐसा तो कोई नहीं कह सकता । इसके विपरीत उसी विधवा स्त्री को पति का नाम सुनने से जो आनन्द और स्मरण आदि होगा उसकी अपेक्षा दुगुना आनन्द तथा स्मरणादि उसे, उसकी मूर्ति अथवा चित्र देख कर होगा । इस तरह नाम की अपेक्षा मूर्ति में विशेष गुण निहित हैं ।

पुनः किसी व्यक्ति ने कभी सांप को नहीं देखा, केवल उसका नाम सुना है । इतने मात्र से उस पुरुष के किसी स्थान पर सर्प देखने पर 'यह सर्प है' ऐसा ज्ञान होगा ? नहीं होगा । परन्तु सर्प का आकार जिसने जाना होगा, वह सर्प को प्रत्यक्ष रूप में देखते ही उसे पहचान जायगा ।

इस प्रकार जिस व्यक्ति ने मनुष्य विशेष को देखा नहीं, और न उसकी तस्वीर देखी है; केवल उसका नाम सुना है

तो वह व्यक्ति यदि किसी समय, उस मनुष्य के निकट से भी निकल जाय, तो भी उसे पहचान नहीं सकेगा, परन्तु जिस व्यक्ति नेउसकी तस्वीर देखी होगी, वह शीघ्र उसे पहचान जायगा कि, "यह वह व्यक्ति है' इस पर से भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप पहचानने के लिये नाम जितना उपयोगी है, उसकी अपेक्षा मूर्ति अथवा आकार अधिक उपयोगी है।

प्रश्न ३०—जब कारीगर द्वारा निर्मित मूर्ति पूजनीय है, तो उसका निर्माता कारीगर विशेष पूजनीय क्यों नहीं ?

उत्तर—कारीगर प्रतिमा को बनाने वाला है न कि उस व्यक्ति को कि जिसकी वह प्रतिमा है। बीज को धरती में बोया जाता है, खाद डाली जाता है और कृषक के परिश्रम से ही उन बीजों से अन्न उपजाया जाता है। फिर भी अनाज के खाने वाले मिट्टी अथवा खाद आदि खाना पसंद नहीं करते।

श्री जिन प्रतिमा बनती है पत्थर आदि से, उसे बनाता है कारीगर, पर उसका स्वरूप तो श्री वीतराग परमात्मा है। यदि कारीगर श्री वीतराग परमात्मा का ही सर्जक हो तो वह अवश्य पूजनीय है, पर ऐसा तो नहीं है। पतिव्रता स्त्री पति के फोटो का आदर करती है पर फोटोग्राफर का नहीं। शास्त्रों को लिखने वाले प्रतिलिपिकार हैं, पर क्या वे पूजनीय हैं? नहीं हैं। क्योंकि शास्त्रों का उद्भवस्थान प्रतिलिपिकार नहीं है। वे तो केवल नकल करने वाले हैं।

शास्त्र पूजनीय होने से शास्त्रकार पूजनीय माने जाते हैं, तथा शास्त्रकार पूजनीय होने से उनके द्वारा रचित शास्त्र पूजनीय माने जाते हैं। यह बात बिल्कुल ठीक है। इसी तरह श्री जिनेश्वरदेव पूजनीय होने के कारण उनकी प्रतिमा भी पूजनीय गिनी जाती है पर प्रतिमा का बनाने वाला कारीगर

नहीं। किसी प्रिय अथवा पूज्य व्यक्ति के चित्र में अधिकाधिक यथार्थता लाने वाला व्यक्ति, आनन्द देने वाला तथा पुरस्कार का पात्र बनता है। ठीक उसी तरह वीतरागता की सुन्दर छाया रूप में श्री जिनमूर्त्ति को बनाने वाला कारीगर आनन्द देने वाला व इनाम का पात्र बनता है।

जो श्री वीतराग परमात्मा की मूर्ति को मानने-पूजने आदि से इन्कार करने के लिये ऐसे कुतर्क उठाते हैं कि, 'जब मूर्ति पूजनीय है, तो उसको बनाने वाले कारीगर विशेष पूजनीय क्यों नहीं ? उनसे पूछना चाहिये कि, 'तुम जिन शास्त्रों को पूजनीय मानते हो, उनकी नकल करने वाले प्रतिलिपिकार अथवा मुद्रणालय वालों को शास्त्रों से अधिक पूजनीय मानते हो क्या ? साधु महात्माओं के वस्त्रादि उपकरणों को तुम बहुत आदरणीय मानते हो परन्तु उनको बनाने वाले बुनकर तथा कारीगर आदि को इनसे भी बढ़कर आदरणीय मानते हो क्या ? यदि नहीं तो श्री जिनमूर्ति के सम्बन्ध में ही ऐसे कुतर्क क्यों ? श्री जिनमूर्ति की पूजनीयता श्री जिनेश्वरदेवों के गुणों के फलस्वरूप ही है, इस बात को समझने वाले व्यक्ति तो कभी भी ऐसे बुरे विचारों में नहीं फँसेंगे।

प्रश्न ३१-प्रतिमा निर्जीव है तो उसकी पूजा क्यों होती है ?

उत्तर—जो द्रव्य पूजनीय है, तो वह सजीव हो या अजीव, वह पूजनीय है ही। दक्षिणावर्त शंख, काम कुम्भ, चिन्तामणि रत्न, चित्रावेली आदि पदार्थ अजीव तथा जड़ होने पर भी विश्व में पूजे जाते हैं और उनके पूजने वालों को मन वांछित फल की प्राप्ति भी होती है। जैसे ये निर्जीव वस्तुएँ अपने स्वभाव से पूजक का हित करती हैं वैसे ही श्री जिन-

प्रतिमा भी पूजक आत्माओं को स्वभाव से ही शुभ फल देती है।

प्रश्न ३२—जिन प्रतिमा तो साधारण कीमत में बिकती है, तो फिर उसे भगवान् कैसे माना जाय?

उत्तर—भगवान् की वाणी स्वरूप श्री आचारांग, श्री भगवती आदि पुस्तकें थोड़ी कीमत में बिकती है, तो फिर उसे भी पूजनीय कैसे माना जा सकता है? पुस्तकों द्वारा ज्ञान का प्रचार होता है अतः वे पूजनीय हैं, प्रतिमा द्वारा भव्यात्माओं को परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है अतः वह इससे भी अधिक पूजनीय है।

शास्त्र कि जो, कागज पर स्याही से लिखे हुए हैं, उनको भी स्वयं गणधर महर्षिओं ने, 'भगवान' कहकर वंदन नमस्कार किया है तो प्रतिमा वंदन-नमस्कार योग्य हो, उसमें शंका ही क्या है? शास्त्रों में कहा है कि—

'नमो बंभीलिविए' बंभीलिपि को नमस्कार हो!

'आयरस्सणं' भगवओ 'भगवान् श्री आचाराग' इत्यादि

सुलभ और सस्ती वस्तुएँ भी कई बार बड़े व्यक्तियों के स्वीकार करने पर दुर्लभ तथा कीमती बन जाती हैं। ठीक वैसे ही अल्प मूल्य में मिलने वाली प्रतिमाएँ भी अंजनशलाका तथा प्रतिष्ठा आदि शुभ क्रियाओं के द्वारा अमूल्य एवं परम पूजनीय बनती हैं। राज्याभिषेक होने पर जैसे साधारण व्यक्ति भी राजा गिना जाता है तथा विवाहोत्सव के बाद साधारण घर की कन्या भी राजरानी अथवा बड़े घर की सेठानी गिनी जाती है वैसे ही अल्प मूल्य में मिलने वाली प्रतिमाएँ भी श्री संघ

द्वारा विधिवत् प्रतिष्ठा होने पर, साक्षात् परमात्मा के समान पूजनीय बनती हैं।

प्रश्न ३३—मूर्ति परमात्मा तुल्य हो तो उसे स्त्री का स्पर्श क्यों? उसे ताले में क्यों रखा जाता है?

उत्तर स्त्री के स्पर्श का दोष, भाव अरिहंत को लेकर है। प्रतिमा तो श्री अरिहंतदेव की स्थापना है। स्थापना अरिहंत को स्त्री के स्पर्श से कोई दोष नहीं लगता। यदि कोई स्थापना अरिहंत तथा भाव अरिहंत दोनों में एक समान दोषों का आरोपण करना चाहता हो तो वह संभव नहीं है।

सूत्रों में सोना, चाँदी तथा स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक आदि अनेक वस्तुओं के नाम लिखे होते हैं। वे सभी उन २ नामों के अक्षरों की स्थापना हैं। उनमें चित्र भी होते हैं। यदि स्थापना और भाव में समान दोष लगने की कल्पना की जाय तो उनको हाथ में लेने से साधु साध्वी के महाव्रत समाप्त हो जाने चाहिये, पर ऐसा नहीं है।

शास्त्र तो सभी मुनिगण हाथ में लेकर पढ़ते हैं। उसमें देवलोक के देव देवियों के चित्र तथा नारकियों के चित्र आदि का सभी स्पर्श करते हैं वर्तमान पत्रों एवं पुस्तकों में स्त्री पुरुषों के चित्र पत्ते २ पर भरे होते हैं, उनका ब्रह्मचारी, मुनिवर आदि भी स्पर्श करते हैं। तो क्या सबके शीलव्रत कायम रहते हैं या भंग हो जाते हैं? चित्रों आदि के स्पर्श से यदि शीलव्रत नष्ट हो जाता हो तो जगत् में शुद्ध ब्रह्मचर्य को पालने वाला कोई मिलेगा ही नहीं। अतः जैसे चित्र, पुरुषादि की स्थापना हैं और इसका स्पर्श होने से ब्रह्मचारी को दोष नहीं लगता

वैसे ही मूर्ति, श्री अरिहंत देव की स्थापना है, उसे स्त्री आदि का स्पर्श होने से दोष किस प्रकार लग सकता है ?

साधु हरी वनस्पति को हाथ नहीं लगाते हैं, फिर भी ग्रन्थों अथवा पुस्तकों में स्थान २ पर झाड़ी या वनस्पतिओं के चित्र आते हैं तो उनका स्पर्श करने से क्या वनस्पति के स्पर्श का दोष लगता है ? नहीं लगता।

इससे सिद्ध होता है कि भाव अरिहंत तथा स्थापना अरिहंत आश्रयी को, एक समान दोष आरोपित नहीं हो सकते। ऐसा करने पर महा अनर्थ हो जाता है।

दूसरी बात है—ताले चाबी की, भगवान् की स्थापना होने के कारण प्रतिमाजी की रक्षा हेतु मंदिरों को ताला लगाया जाता है। इससे तो उल्टी भक्ति होती है, दोष नहीं लगता तथा भक्ति का परम फल मोक्ष है।

जैसे भगवान् की वाणी की स्थापना रखने वाले सूत्रों की, रक्षा के लिये उन्हें उत्तम वस्त्रों में लपेट कर अलमारी में रख कर ताला लगाया जाता है तथा साधु साध्वियों के चित्रों को सुन्दर फ्रेम में मढ़वाकर भव्य दीवानखानों में टांगा जाता है वैसे ही भगवान् की प्रतिमाओं की रक्षा के लिये श्री जिन मन्दिर तथा उसके गर्भद्वार पर ताला लगाया जावे या रक्षा हेतु, कोई अन्य प्रबन्ध किया जावे तो इसमें क्या दोष है ? यदि ऐसा नहीं किया जावे तो दुष्ट लोग आशातना आदि करते हैं और उसका दोष रक्षा नहीं करने वाले को लगता है।

प्रश्न ३४—क्या मूर्ति में वीतराग के गुण हैं ?

उत्तर—एक अपेक्षा से हैं तथा एक अपेक्षा से नहीं भी हैं।

पूजकव्यक्ति उसमें वीतराग भाव का आरोपण कर पूजा करता है, तब वह मूर्ति वीतराग समान ही बनती है तथा वीतराग की भक्ति जितना ही फल देती है। इस दृष्टि से श्री जिनमूर्ति श्री जिनवर के समान है। दुष्ट परिणाम वाले व्यक्ति को मूर्ति के दर्शन से कोई लाभ नहीं होता पर उसके विपरीत अशुभ परिणाम से कर्म बंधन होता है। इसके बजाय हम यह कह सकते हैं कि मूर्ति वीतराग के समान नहीं है पर इससे इसकी तारक शक्ति चली नहीं जाती। शक्कर मीठी होते हुए भी गधे को नहीं रुचती है, बल्कि नुकसान करती है, पर इससे शक्कर का स्वाद नष्ट नहीं होता। वैसे ही मूर्ति भी मिथ्यादृष्टि जीवों को रुचिकर नहीं होती, पर इससे उसकी मोक्षदायकता चली नहीं जाती।

प्रश्न ३५—मूर्ति यदि जिनराज तुल्य है तो इस पंचम आरे में तीर्थंकर का विरह क्यों कहा गया है ?

उत्तर–भरतक्षेत्र में पंचम आरे में तीर्थंकर का विरह बताया है। यह भाव तीर्थंकर की अपेक्षा से कहा गया है न कि स्थापना अरिहंत की अपेक्षा से किसी गाँव में साधु न हो पर उनकी तस्वीर हो तो भी ऐसा कहा जाता है कि, 'इस गाँव में आजकल कोई साधु नहीं विचरते' तो वह विरह भाव साधु का ही समझा जाता है। कोई ऐसा नहीं मानता कि, 'इस गाँव में साधु की तस्वीर का भी अभाव है।'

प्रश्न ३६—एक क्षेत्र में दो तीर्थंकर नहीं होते हैं, पर एक ही भवन में अनेक मूर्तियों को एकत्रित क्यों किया जाता है ?

उत्तर—यह विषय भी स्थापना संबंधी है और जो निषेध है, वह भाव अरिहंत के संबंध में है। जैसे सभी तीर्थंकर सिद्धिगति

को प्राप्त होते हैं तब अनंती चौबीसी के तीर्थंकर एक ही क्षेत्र (द्रव्य-निक्षेप से) में रहते हैं वैसे (स्थापना-निक्षेप से) एक ही मंदिर में एक सौ आठ अथवा उससे भी अधिक प्रतिमाओं के रहने में कोई बाधा नहीं है।

स्थापना को भी एक साथ रखने में यदि कोई बाधा होती तो श्री जंबूद्वीप में सैंकड़ों पर्वत, नदी, गुफाएँ आदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर हैं पर इनको एक ही नक्शे में एकत्रित कर लोगों को कैसे समझाया जाता है ? सूत्रों में सभी तीर्थंकरों के नाम की स्थापना जैसे एक ही कागज़ पर की जाती है तथा नाम अरिहंत एवं द्रव्य अरिहंत को भी एक साथ रहने में जैसे कोई बाधा नहीं आती है वैसे स्थापना अरिहंत को भी एक ही मकान में रहने में कोई बाधा नहीं आती हैं। जो बाधा है वह भाव अरिहंत को ध्यान में रखकर बताई गई है।

प्रश्न ३७—क्या गुरु का चित्र देखकर शिष्य एवं पिता का चित्र देखकर पुत्र खड़ा होगा ? आदर देगा ? ससुर की तसवीर देखकर पुत्रवधु घूंघट निकालेगी ? यदि नहीं तो फिर मूर्ति को मानने का आग्रह किसलिये ?

उत्तर–शिष्य अपने गुरु की तथा पुत्र अपने पिता की तसवीर का आदर नहीं करेगा तो क्या अपमान करेगा ? अथवा कोई शत्रु यदि उन तस्वीरों के मुख पर काजल पोतना चाहेगा तो क्या वे ऐसा करने देंगे ? क्या वे इसको सहन करेंगे ? अथवा तसवीरों को केवल कागज तथा स्याही का रूप मानकर रास्ते में लोगों के पैरों तले कुचले जाने हेतु फेंक देंगे। ऐसे कार्य किसी ने किये नहीं और यदि कोई करता है तो वह विचारवानों की निगाह में कपूत एवं हँसी का पात्र अवश्य गिना जायगा। इस प्रकार का आचरण साक्षात् गुरु और साक्षात् पिता का अपमान

करने के तुल्य ही गिना जाता है। इसके विपरीत उन चित्रों को अच्छी फ्रेम में लगाकर मेज या सिंहासन पर ऊँचे स्थान पर रक्खें अथवा दीवार पर स्वच्छता से लगावें तो इससे गुरु अथवा पिता का आदर करना ही माना जायगा तथा उसे देखकर अपने गुरु अथवा पिता की याद आये विना भी नहीं रहेगी।

दूसरी बात—शिष्य अथवा पुत्र, गुरु अथवा पिता के नाम का आदर करे, या नहीं ? यदि करता है, तो नाम की अपेक्षा चित्र से तो विशेष याद आती है, ऐसी दशा में उसे उसका विशेष विनय आदि करना चाहिये।

साथ ही यह तर्क भी व्यर्थ है कि पुत्रवधु श्वसुर की तसवीर को देखकर घूंघट नहीं निकालती। जैसे तसवीर देखकर शर्म नहीं करती वैसे ही नाम सुनकर भी घूंघट नहीं निकालती है तो फिर परमात्मा का नाम भी निरर्थक ही समझना चाहिए। इसके विपरीत श्वसुर को पहले नहीं देखा हो तो उसका चित्र देखकर बहू को इस बात का ज्ञान होगा कि—'ये मेरे श्वसुर हैं। वैसे ही जिन्होंने भगवान् को नहीं देखा है वे मूर्ति से पहचान जायंगे कि, 'ये मेरे भगवान् हैं।'

श्वसुर की पहचान होते ही बहू को घूंघट निकालने की हिचक अथवा शंका नहीं रहती, जिससे लाज करने-न-करने का कार्य सुगम हो जाता है। वह श्वसुर को पहचान कर तुरन्त घूंघट निकालती है तथा दूसरों को देखकर नहीं निकालती। वैसे ही मूर्ति द्वारा प्रभु की पहचान होने पर असेव्य के परित्याग का तथा सेव्य की सेवा भक्ति करने का कार्य सुगम बन जाता है और किसी भी प्रकार के भ्रमजाल में पड़ने का भय नहीं रहता। मूर्ति का यह भी एक महान् उपकार है।

प्रश्न ३८—भगवान् की मूर्ति ही यदि भगवान् है तो पापी चोर उनके आभूषण कैसे चुरा कर ले जाते हैं? लोग उनकी हजारों की रकम कैसे हजम कर जाते हैं? उनकी मूर्ति को दुष्ट कैसे खण्डित कर जाते हैं? और यदि भगवान् सर्वज्ञ हैं तो उनकी मूर्ति को धरती से खोदकर क्यों निकालनी पड़ती है? शासनदेव यह कार्य क्यों नहीं करते?

उत्तर–यह प्रश्न ही मूर्खतापूर्ण है। श्री वीतराग के गुणों का आरोपण कर भक्ति के लिये जड़ वस्तु से बनी मूर्ति जमीन में से अपने आप क्यों न निकले अथवा उसके अलंकार आदि को चोरी करते हुए पापी लोगों को शासन देवता क्यों नहीं रोकते? इसका उत्तर यह है कि जड़ स्थापना में यह शक्ति कहां से आवे? तथा शासनदेव प्रत्येक प्रसंग पर आकर उपस्थित हो जावें, ऐसा नियम कहाँ है?

भगवान् श्री महावीरदेव के जीवनकाल में उनकी सेवा में लाखों देव उपस्थित रहते थे फिर भी मंखलि पुत्र गोशाला ने भगवान् पर तेजोलेश्या फेंकी और उससे उन्हें खून के दस्त की व्याधि हुई। उस समय शासनदेवों ने कुछ नहीं किया, इससे क्या उनकी भक्ति में अन्तर आ गया? कितने ही भाव ऐसे होते हैं कि जिनको देवता भी नहीं बदल सकते। जिस समय जो होना है वह किसी काल में भी मिथ्या नहीं होता। स्वयं श्री तीर्थंकर महाराजा से दीक्षा ग्रहण करके अनेक स्त्री पुरुष उनके विरोधी हुए हैं, अनेक प्रकार के पाखंडी मत उन्होंने स्थापित किये हैं तथा भगवान् की निन्दा की है: तो क्या सर्वज्ञ भगवान् इस बात को नहीं जानते थे कि 'ये पाखंडी चारित्र की विराधना करेंगे और मिथ्यात्व का प्रचार करेंगे? सब कुछ जानते थे तो फिर उन्हें दीक्षा क्यों दी?

केवल इसीलिये कि ऐसे भावविभाव आदि को भी ये तारक जानते थे।

वर्तमान में श्री वीतराग का धर्म अति अल्प प्रमाण में रह गया है। उसमें भी अनेक प्रकार की भिन्न भिन्न शाखाएँ पड़ी हैं तथा छलनी की तरह छेद हो गये हैं। मिथ्यात्व एवं दुराग्रह के अधीन व्यक्ति उत्सूत्र भाषण करने में कुछ बाकी नहीं रखते। तब फिर ऐसे निंदक तथा प्रतिक्रियावादियों को रोककर शासन देव सत्य मार्ग का उपदेश क्यों नहीं देते? लोगों को महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर स्वामी के पास ले जाकर उनके दर्शन कराकर शुद्ध धर्म का प्रतिबोध क्यों नहीं करवाते? अतः देवताओं के हाथों से भी जो जो चमत्कारी कार्य होने लिखे होते हैं वेही होते हैं, उनसे अधिक नहीं, ऐसा मानना ही चाहिये।

अभी हाल में भी बहुत सी मूर्तियां, जैसे कि श्री भोयणीजी में श्री मल्लीनाथ भगवान् तथा श्री पानसरजी में श्री महावीर स्वामी भगवान् आदि के लिए शासनदेव स्वप्न में आकर अनेक प्रकार के चमत्कार वताते हैं। असंख्य वर्षों से मूर्तियों की रक्षा भी करते हैं। इसके अतिरिक्त कई उपसर्गादि का निवारण भी करते हैं और बहुतों का नहीं भी करते हैं क्योंकि हर बार शासन देव सहायता करें, ऐसा नियम नहीं है।

आज के युग में कई मूर्खलोग श्री जिनमंदिर में चोरी आदि करने का दुष्ट कर्म करते हैं तो उसका फल वे अवश्य भुगतेंगे। इससे शासन देवताओं को कलंक नहीं लगता अथवा इससे स्थापना अरिहंत की महिमा भी नहींघटती। अरिहंत की महिमा तो तभी कम हो सकती है, जब कि स्थापना अरिहंत के भक्तों को इस भक्ति से वीतराग परमात्मा के गुणों आदि का स्मरण न होता हो, उनको वीतराग भाव, देशविरति अथवा

सर्वविरति के परिणाम, संयम और तप की ओर वीर्योल्लास, भवभ्रमण का निवारण अथवा मोक्ष सुख की निकटता आदि न होती हो। इन सभी लाभों से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता।

प्रश्न ३९—निरंजन निराकार की मूर्ति किस प्रकार बन सकती है?

उत्तर–तमाम मतों के देव तथा शास्त्रों के रचयिता निराकार नहीं हुए पर साकार ही हुए हैं। देहधारी के सिवाय कोई भी शास्त्रों की रचना नहीं कर सकता और न मोक्ष मार्ग ही बता सकता है। सभी शास्त्र अक्षर स्वरूप हैं। अक्षरों का समूह तालु, ओष्ठ, दाँत आदि स्थानों से उत्पन्न होता है और वे स्थान देहधारी को ही होते हैं और इसीलिये ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की मूर्ति अवश्य हो सकती है।

मोक्षगामी होने के पश्चात् वे अवश्य निराकार बन जाते हैं, फिर भी उनकी पहिचान के लिये मूर्ति की आवश्यकता रहती है। जिस प्रकार शास्त्रों के रचने वाले देह धारियों के मुख से निकले हुए अक्षरों के समूह किसी विशेष आकार के नहीं होते हैं यद्यपि उनके आकार की कल्पना करके, उनको शास्त्रों के कागजों पर अंकित किये गये हैं और इसी से उनका बोध होता है। वैसे ही निराकार सिद्ध भगवान् का आकार भी इस दुनिया में, उनके अन्तिम भव के अनुसार कल्पना करके मूर्ति रूप में उतारा जाता है। इससे निराकार सिद्ध भगवान् का स्वरूप भी समझा जा सकता है तथा साक्षात् सिद्ध के रूप में उनका ध्यान करने वालों की सभी मनो-कामनाएँ भी पूर्ण होती हैं।

ऐसा एक नियम है कि किसी भी निराकार वस्तु का परिचय कराना हो तो उसे साकार बनाकर ही किया जा सकता

है। इसके लिए प्रसिद्ध दृष्टांत सभी प्रकार की लिपियों का है। अपने मन के आशय को दूसरे के शब्दों द्वारा स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है और ये शब्द जिन वर्णों के बने होते हैं उन वर्णों को भिन्न २ आकार देने से ही उनके अर्थ का स्पष्ट ज्ञान कराया जाता है। वर्णों को क, ख, ग, घ अथवा A, B, C, D आकार नहीं दिये जावें तथा सबकी आकृति एक समान कर दी जाय तो किसी को भी बोध हो सकता है क्या? नहीं। इसलिये निराकार वस्तु का स्पष्ट बोध उसे आकार प्रदान किये बिना नहीं कराया जा सकता।

प्रश्न ४०—इस युग में बुद्धिजीवी लोग मूर्ति को नहीं मानते है, केवल जड़ लोग ही मानते हैं, क्या यह बात ठीक है?

उत्तर—यह बात सर्वथा असत्य है। किसी भी काल के बुद्धिमान लोगों का कार्य मूर्ति को माने सिवाय चलता ही नहीं। कोई प्रत्यक्ष रूप से मानते हैं और कोई परोक्ष रूप से। सभी अपने २ धर्मोपदेशकों को मानते हैं। वे देहधारी होते हैं और इसलिए उनका आकार भी होता है। अपने मत के उपदेशक को पहचानने के लिए उनके देहाकार का उपयोग किये बिना क्या उनका काम चलता है? नहीं चलता।

यूरोप, अमेरिका, एशिया तथा अफ्रिका आदि भिन्न-भिन्न खण्डों तथा उनमें बसे विभिन्न नगरों, नदियों, पर्वतों आदि का ज्ञान देने के लिए प्रत्येक मनुष्य को उन २ देशों के नक्शों आदि का आलंबन लेना ही पड़ता है। किसी भी नए घर, हाट, हवेली, दुकान, महल अथवा गढ़ को बनाते समय उसके पूर्व उसका प्लान तैयार करना ही पड़ता है। यह मूर्ति नहीं तो और क्या है?

प्रत्येक देश के बुद्धिमान लोगों को इन आकारों का आश्रय लेना ही पड़ता है, फिर भी केवल देवमूर्ति सम्बन्धी बाधा उठाने में आती है, यह केवल अज्ञानता अथवा धर्मद्वेष का ही परिणाम है। हम देख आये हैं कि सम्पूर्ण ज्ञान निराकार श्रुत है और वह केवल उसके अक्षरों की आकृति से ही प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्येक धर्मानुयायी शास्त्र तथा माला को तो मानते ही हैं। शास्त्र जैसे वचन की स्थापना है वैसे माला भी अपनी अपनी मानी हुई इष्ट वस्तुओं की अथवा उनके गुणों की स्थापना ही है। अन्यथा संख्या विशेष मणकों की ही माला होनी चाहिए, ऐसा नियम नहीं हो सकता।

प्रत्येक मत वाले अपने इष्टदेव को पूजने हेतु किसी न किसी प्रकार के आकार को मानते ही हैं, अब इस बात को दूसरे ढंग से स्पष्ट करें।

ईसाईयों में रोमन केथोलिक ईसा की मूर्ति को मानते हैं। प्रोटेस्टेन्ट ईसा की स्मृति तथा उन पर की श्रद्धा को जीवित रखने के लिए उनको दी हुई सूली के निशान क्रोस (†) को हमेशा अपने पास रखते हैं। ज्ञान की स्थापना रूप बाइबिल का आदर करते हैं, अपने पूज्य पादरियों के चित्र अपने पास रखते हैं तथा उनकी प्रतिमाओं, पुतलों तथा कब्रों का बड़ा आदर करते हैं।

मुसलमान नमाज के समय पश्चिम में 'काबा' की तरफ मुँह रखते हैं। क्या खुदा पश्चिम के सिवाय अन्य दिशा में नहीं? तो फिर पश्चिम में मुँह रखने की क्या जरूरत? 'काबा' की यात्रा पश्चिम दिशा में होती है, इसलिए पश्चिम की ओर नजर

रक्खी जाती है। तब फिर इसे भी खुदा की स्थापना ही माना जाय। मक्का मदीना हज करने जाते हैं तथा वहाँ काले पत्थर का चुम्बन करते हैं, टेढ़े होकर नमन करते हैं, प्रदक्षिणा देते हैं और उस तरफ दृष्टि स्थिर रखकर नमाज पढ़ते हैं। उसकी यात्रा के लिये हजारों रुपये खर्च करते हैं। इस पत्थर को पापनाशी मानकर उसका खूब सम्मान करते हैं।

जब अनघड़ पत्थर भी ईश्वर तुल्य सम्मान के योग्य है तथा उसके सम्मान से पापों का नाश होता है तो परमात्मा के साक्षात् स्वरूप की बोधक प्रतिमाएँ ईश्वर तुल्य क्यों नहीं? उसका आदर, सम्मान व भक्ति करने वालों के पापों का नाश क्यों नहीं होगा? क्या परमेश्वर सर्वत्र नहीं है कि जिससे मक्का मदीना जाना पड़ता है। अतः मानना पड़ेगा कि मन की स्थिरता के लिये मूर्ति के रूप में अथवा अन्य किसी रूप में स्थापना को मानने की आवश्यकता होती ही है।

मुस्लिम ताबूत बनाते हैं, वह भी स्थापना ही है। उसे लोभान का धूप कर पुष्प हार आदि चढ़ाकर अच्छे ढंग से उसका आदर करते हैं। शुक्रवार को शुभ दिन मानकर सामान्य मस्जिद में तथा ईद के दिन बड़ी मस्जिद में जाकर नमाज़ पढ़ते हैं। वे मस्जिदें भी स्थापना ही हैं। कुरान शरीफ को खुदा का वचन मान कर सिर पर चढ़ाते हैं, वह भी स्थापना ही है। औलीया, फकीर, मीरां साहब, ख्वाजा साहब आदि दरगाहों की यात्रा करते हैं तथा वहाँ स्थित मजारों पर पुष्पहार, मेवा, मिठाई आदि चढ़ाकर वन्दन पूजन आदि करते हैं तो वह भी स्थापना-तुल्य नहीं तो और क्या है? मस्जिदों, मक्का, मदीना, फकीरों आदि की तस्वीर खिचवाकर अपने पास रखते हैं, वह भी स्थापना ही है।

इस प्रकार कई प्रकार से मुसलमान भी अपनी मानी हुई पूज्य वस्तुओं की मूर्ति को एक समान मान देते हैं।

पारसी लोग अग्नि को मानते हैं और यह भी एक प्रकार की स्व—इष्ट देव की स्थापना ही है।

नानक पंथी गुरु नानक के पश्चात् उनकी गद्दी पर बैठनें वाले जितने भी गद्दीपति हुए उन सबकी लिखी पुस्तकों को परमेश्वर तुल्य मान कर भक्ति करते हैं। ग्रन्थ को विराजमान करते समय बड़े बड़े जुलूस निकालते हैं, सुसज्जित भवनों में ऊँचें आसन पर रखकर उनके समक्ष नाट्य आदि करते हैं तथा उनका रात दिन गुणगान करतें हैं। पुस्तकें भी अक्षरों कीं स्थापना ही हैं।

कबीर पंथी कबीर की गद्दी को पूजते हैं। कोई उनकी पादुकाओं को पूजता है और सभी उनकी रचित पुस्तकों को सिर पर चढ़ाते हैं।

दादू पंथी दादूजी की स्थापना तथा उनकी वाणी रूप ग्रन्थ को पूजते हैं। समाधि-स्थल बनवाकर उसमें गुरु के चरणों को प्रतिष्ठित करते हैं और उनकी पूजा करते हैं।

वेदों में भी मूर्ति पूजा के अनेक पाठ हैं! अतः आर्य-समाजियों का मूर्ति का खण्डन करना सर्वथा अनुचित है। उनकें स्वामी दयानन्द शरीरधारी मूर्तिमय थे, वेद शास्त्रों की अक्षर रूप में स्थापना को वे मानते थे तथा स्व—रचित सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकों में अपनी वाणी की आकृतियों द्वारा ही बोध करतें तथा करवाते थे। इन आकृतियों का आश्रय यदि नहीं लिया होता तो किस तरह अपने मत की स्थापना कर सकते थे?

जिस मूर्ति अथवा आकृति का आश्रय लेकर अपना काम निकाला उसी मूर्ति का अनादर करना बुद्धिमानी का काम नहीं हैं। दयानन्द यदि मूर्ति को नहीं मानते होते तो अपने सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ में अग्नि होत्र समझाने के लिये थाली, चम्मच आदि के चित्र खींचकर अपने भक्त वर्ग को समझाने का प्रयत्न क्यों करते ?

जो बात एक साधारण चित्रकार भी समझ सकता है उसे समझने के लिये उनके विद्वान् कहलाने वाले शिष्य भी क्या असमर्थ थे ? तो फिर महान् ईश्वर तथा उसका स्वरूप, ईश्वर की मूर्ति बिना वे किस प्रकार समझ सकते थे ? स्वामीजी की तस्वीर उनके भक्तों द्वारा स्थान २ पर रखने में आती है। यदि ऐसे संसारस्थित व्यक्ति की भी तस्वीर के रूप में रहने वाली मूर्ति के दर्शन से स्वार्थ साधा जा सकता है, ऐसा मानते हो तो सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान तथा गुरु के भी गुरु ऐसे परमेश्वर की मूर्ति के दर्शन आदि से स्व-इष्ट नहीं साधा जा सके, ऐसा कैसे माना जा सकता है ?

आर्य समाजी भी अग्नि को पूजते हैं। उसमें घी आदि डाल-कर होम करते हैं तो क्या वह अग्नि उनकी दृष्टि में जड़ नहीं है? सूर्य के सामने खड़े रहकर 'ईश्वर-प्रार्थना' करते हैं तो वह सूर्य आदि क्या जड़ नहीं है ? तब फिर परमेश्वर की मूर्ति से दूर क्यों भागते हैं ? मूर्ति कृत्रिम है और सूर्य, अग्नि आदि कृत्रिम नहीं, ऐसा कहते हों तो उनके गुरुओं का वेश कृत्रिम है या अकृत्रिम ? शास्त्र कृत्रिम हैं या अकृत्रिम ? उनको आदर कैसे देते हैं ? अतः जो वस्तु पूजनीय है वह चाहे कृत्रिम हो या अकृत्रिम उसको पूजना ही चाहिये, ऐसी सबके अन्तःकरण की पुकार है।

इस प्रकार प्रत्येक पंथ के अनुयायी अपनी अपनी पूजनोय वस्तुओं के आकार की किसी न किसी ढंग से पूजा करते ही हैं। इससे मूर्ति पूजा बालक से लगाकर पंडित तक सभी को मान्य है।

प्रश्न ४१—गुरु साक्षात् रूप में उपदेश देते हैं वैसे मूर्ति कभी उपदेश नहीं देती अथवा देने वाली नहीं तो फिर साक्षात् गुरु को छोड़कर जड़ मूर्ति की उपासना करने से क्या लाभ ?

उत्तर—सब से पहले यह समझना चाहिये कि गुरु भी उपदेश किसको दे सकते हैं। जो शून्य हृदय वाले हैं, उन्हें गुरु भी उपदेश कैसे दे सकते हैं ? गुरु का उपदेश समझने के लिये जैसे पहले शास्त्राभ्यास करना पड़ता है तथा समझने की शक्ति प्राप्त करनी पड़ती है और बाद में ही वह समझा जाता है वैसे ही मूर्ति पूजा के लिये भी जिसकी मूर्ति की पूजा करनी हो उसके गुणों का स्वरूप समझकर फिर उसकी पूजा की जाय तो लाभ क्योंकर नहीं होगा ? अवश्य होगा।

फिर—'गुरु उपदेश देते हैं व मूर्ति उपदेश नहीं देती'—इस कारण ही यदि गुरु पूजनीय हों और मूर्ति पूजनीय न हो तो स्वर्गवासी सभी गुरु अपूजनीय ही बनेंगे, क्योंकि वे उपदेश तो देते नहीं हैं। तो फिर उनको भी हाथ जोड़ना या नमस्कारादि करना छोड़ देना पड़ेगा।

आगे चलकर कहा जाय कि गुरु उपदेश क्यों देते हैं ? क्या उपदेश द्वारा स्व-पर-हित साधकर मोक्ष प्राप्ति के लिये ? यदि उपदेश देने में गुरुओं का यही ध्येय हो तो मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् अशरीरी अवस्था में वे किस प्रकार उपदेश दे

सकेंगे ? इससे तुम्हारी दृष्टि में मोक्ष में जाने के बाद वे अपूज्य होंगे और उतने ही पूज्य रहेंगे जितने कि मोक्ष के इरादे अर्थात् अशरीरी बनने के इरादे से उपदेश न दें और केवल इस चतुर्गति रूप संसार में सदा काल भटकने का बना रहे, इस इरादे से उपदेश दें। क्योंकि इसके बिना उनके द्वारा सदा काल बोध नहीं दिया जा सकता और यदि वे बोध न दें तो तुम्हारी दृष्टि से पूजनीय नहीं गिने जायेंगे। परन्तु बोध देने के लिये आहार लेना पड़े, निहारादि करना पड़े, वे भी तुम्हारी दृष्टि में पूजनीय, और मोक्ष में जाने के बाद अनाहारी बनने वाले पूज्य नहीं !

'उपदेश करें वे ही उत्तम' ऐसा मानने पर, अन्त में आहार करे वह उत्तम और आहार नहीं करे वह उत्तम नहीं'–ऐसा मानने का प्रसंग भी आ पड़ेगा। अतः सदुपदेशादि करें वे तो उत्तम हैं ही परंतु जो ऐसे शुभ कार्य करके निवृत्त बन चुके हैं वे तो उनसे भी उत्तम हैं, ऐसा मानना ही चाहिये।

'मूर्ति उपदेश नहीं देती अतः पूजनीय नहीं और गुरु उपदेश देते हैं अतः पूजनीय हैं' ऐसी अज्ञानपूर्ण बातें करने वाले तत्त्व को नहीं समझते। उपदेशादि देकर जो धन्य बन चुके हैं ऐसे सिद्ध भगवंतों की मूर्ति तो उपदेश देने वाले गुरुओं से भी अधिक पूजनीय हैं क्योंकि गुरुजन उनका अवलंबन लेकर ही गुरु बन सके हैं। जो सिद्ध भगवंतों की पूजा करने से इन्कार करते हैं उनके समान कृतघ्न इस जगत् में दूसरे कोई भी नहीं !

प्रश्न ४२—बहुत लोग कहते हैं कि केवल मूल सूत्र को मानना चाहिये, टीका आदि पीछे से बनी हैं अतः उनको नहीं मानना चाहिये। तो इसमें तथ्य क्या है ?

उत्तर—मूल सूत्रों में कहा है कि 'गणहरा गंथंति अरिहा भासइ।' श्रीगणधर भगवंत सूत्र को गूंथते हैं और श्री अरिहंत भगवंत अर्थ कहते हैं। केवल मूल सूत्र को मानने का कहने वाले छद्मस्थ गणधर भगवंतों का वचन मानने को कहते हैं तथा केवलज्ञानियों द्वारा बताये हुए अर्थ जिनमें भरे हुए हैं ऐसे टीका, चूर्णि, भाष्य तथा निर्युक्ति आदि शास्त्रों को मानने का इन्कार करते हैं। छद्मस्थ गणधरों का कहा मानना और केवलज्ञानी भगवान् का कहा नहीं मानना, क्या यह उचित है। इस कारण शास्त्रों में स्थान स्थान पर निर्युक्ति आदि को माननें के लिये उपदेश दिया है। कहा है कि—

सुतत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइयो य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगो ।। ३ ।।

अनुयोग अर्थात् व्याख्यान के तीन प्रकार हैं। सर्व प्रथम केवल सूत्र और उसका अर्थ, दूसरा अनुयोग निर्युक्ति से मिश्रित तथा तीसरा भाष्य-चूर्णि आदि सभी से। इस प्रकार अनुयोग अर्थात् अर्थ कहने की विधि तीन प्रकार की है।

सूत्र तो केवल सूचना रूप होते हैं। उसका विस्तृत विवरण तो पंचांगी से ही मिलता है। जो पंचांगी को मानने से इन्कार करते हैं वे भी गुप्त रूप से टीका आदि देखते हैं तभी उनको अर्थ का पता लगता है।

और शास्त्र कहते हैं कि, 'दस पूर्वधर के वचन सूत्र तुल्य होते हैं। निर्युक्तियों के रचयिता श्री भद्रबाहुस्वामीजी चौदह पूर्वधर हैं। भाष्यकार श्री उमास्वातिजी वाचक पाँच सौ प्रकरण के रचनें वाले दश पूर्वधर हैं। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण

भी पूर्वधर हैं। इसलिये उनके वचन सभी प्रकार से मानने योग्य हैं। चूर्णिकार भी पूर्वधर हैं। टीकाकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज आदि भी भवभीरु, 'बुद्धि निधान तथा देवसान्निध्य वाले हैं। अतः उनके वचनों को प्रमाण रहित मानना भयंकर अपराध है।

प्रत्येक भवभीरु आत्मा का यह कर्तव्य है कि इन प्रामाणिक महापुरुषों के एक भी वचन के प्रति अज्ञानवश भी कोई दुर्भाव न आने पावे इसके लिये संपूर्ण रूप से सतर्क रहें।

प्रश्न ४३—आगम पैंतालीस कहे जाते हैं फिर भी कई लोग बत्तीस ही मानते हैं तो क्या यह उचित है?

उत्तर—नहीं। बत्तीस आगम मानने वाले भी श्री नंदीसूत्र को मानते हैं। जिसमें तमाम सूत्रों की सूची दी गई है। उसमें दिये हुए अनेक सूत्रों में से केवल बत्तीस ही मानना और दूसरों को नहीं मानना, इसका क्या कारण है? बत्तीस के सिवाय अन्य नये लिखे हुए हैं ऐसा कहा जाय तो ये बत्तीस भी नये लिखे हुए नहीं हैं, इसका क्या प्रमाण है? यदि परंपरा प्रमाण है तो इसी प्रामाणिक परंपरा के आधार पर दूसरे सूत्रों को भी मानना चाहिये।

बत्तीस सूत्रों के मानने वालों को इन बत्तीस में नहीं कही हुई ऐसी भी बहुत सी बातें माननी पड़ती हैं। बीस विहरमान का अधिकार, धन्ना-शालिभद्रचरित्र, नेम-राजुल के भव, रामायण आदि बहुतसी वस्तुएँ बत्तीस आगमों में नहीं हैं फिर भी उनको मानना पड़ता है। बत्तीस सिवाय के अन्य सूत्र परस्पर नहीं मिलते, इसलिये नहीं मानते यदि ऐसा कहा जाय तो बत्तीस

में भी कई स्थानों पर विरोध दिखाई देता है, इसका क्या कारण ? यह विरोध नियुक्ति, भाष्य और टीका आदि को मानें बिना नहीं हट सकता।

कितने ही वचन उत्सर्ग के होते हैं व कितने ही अपवाद के। कितने ही विधिवाक्य होते हैं व कितने ही अपेक्षावाक्य। कितने ही पाठांतर, कितने ही भयसूत्र और कितने ही वर्णन सूत्र होते हैं। इस प्रकार सूत्र अनेक भेद वाले होते हैं। उनके गंभीर आशय को समुद्र के समान बुद्धि के धणी टीकाकार आदि ही समझ सकते हैं, अन्य तो उनके विषय का स्पर्श भी नहीं कर सकते।

इसके उपरांत भी तुच्छ बुद्धि वाले लोग अपनी बुद्धि की कल्पना से चाहे जो कहें पर ऐसे लोग जो कुछ भी कहते हैं उसे असत्य और अप्रामाणिक ही समझना चाहिये।

प्रश्न ४४—श्री जिनप्रतिमा संबंधी उल्लेख कौन कौन से सूत्रों में हैं ?

उत्तर—सूत्रों में जिनप्रतिमा और उनकी पूजा के संबंध में सैंकड़ों उल्लेख प्राप्त होते हैं।

(१)

भावार्थ—श्री महाकल्पसूत्र में एक स्थान पर श्री गौतम-स्वामी पूछते हैं—

"हे भगवन् ! तथारूप श्रमण अथवा माहण तपस्वी चैत्यधर अर्थात् जिनमंदिर में जावें ?" भगवन् कहते हैं—"हाँ गौतम ! सर्वदा प्रतिदिन जावें।"

गौ०—"हे भगवन् ! यदि वह नित्यप्रति नहीं जावे तो आयश्चित आता है ?"

भ०—"हाँ गौतम ! प्रायश्चित आता है ?"

गौ०—'हे भगवन् ! क्या प्रायश्चित आता है ?"

भ०—"हे गौतम ! प्रमाद के वश होकर तथा रूप श्रमण अथवा माहण यदि जिनमंदिर नहीं जावें तो छट्ठ (दो उपवास) का प्रायश्चित आता है अथवा पाँच उपवास का प्रायश्चित होता है।"

गौ०—"हे भगवन् ! जिनमंदिर क्यों जाते हैं ?"

भ०—"हे गौतम ! ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की रक्षा के लिये जाते हैं ?"

गौ०—हे भगवन् ! यदि कोई श्रमणोपासक श्रावक पौषध-शाला में पौषध में रहते हुए ब्रह्मचारी जिनमंदिर नहीं जावे तो प्रायश्चित आता है ?"

भ०—"हाँ, गौतम ! प्रायश्चित आता है। हे गौतम ! जिस प्रकार साधु को प्रायश्चित, वैसे ही श्रावक के लिये भी प्राय-श्चित समझना। वह प्रायश्चित छट्ठ अथवा पाँच उपवास का होता है।"

(२)

"तुंगी, सावत्थी आदि नगरों के श्रावक शंखजी, आनंद, कामदेव आदि ने त्रिकाल श्री जिनमूर्ति की द्रव्य पूजा की है तथा जिन पूजा करने वाला सम्यग्दृष्टि है, नहीं करने वाला मिथ्या-

दृष्टि है तथा पूजा मोक्ष के लिये की जाती है।" ऐसा पाठ श्री महाकल्पसूत्र में है जिसका भावार्थ निम्नानुसार है।

"उस समय तुंगीया नगरी में बहुत से श्रावक रहते थे। १ शंख, २ शतक, ३ सिलप्पवाल, ४ ऋषिदत्त, ५ द्रमक ६ पुष्कली, ७ निबद्ध, ८ भानुदत्त, ६ सुप्रतिष्ठ, १० सोमिल, ११ नरवर्म, १२ आनंद और १३ कामदेव प्रमुख जो दूसरे गाँव में रहते हैं, धनवान, तेजवान, विस्तीर्ण व बलवान् हैं। जिन्होंने सूत्र के अनेक अर्थ प्राप्त किये हैं तथा सूत्र के अर्थ ग्रहण किये हैं तथा चतुर्दशी अष्टमी अमावस्या तथा पूर्णिमा की तिथियों के दिन प्रतिपूर्ण पौषध करने वाले, साधु साध्वी को प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खादिम, स्वादिम का प्रतिलाभ करते विचरते हैं, जिनमंदिरों में जिनप्रतिमाओं की त्रिकाल चंदन, पुष्प, वस्त्रादिक द्वारा पूजा करते हुए निरन्तर विचरण करते हैं।

हे पूज्य! प्रतिमा-पूजन का उद्देश्य क्या?

'हे गौतम! जिनप्रतिमा को जो पूजता है वह सम्यग्दृष्टि; जो नहीं पूजता वह मिथ्यादृष्टि जानना। मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नहीं होता, चारित्र नहीं होता, मोक्ष नहीं होता; सम्यग्दृष्टि को ज्ञान, चारित्र तथा मोक्ष होता है। इस कारण हे गौतम! सम्यग्दृष्टि वाले को जिनमंदिर में जिनप्रतिमा की चन्दन, धूप आदि द्वारा पूजा करनी चाहिये।

(श्री नंदीसूत्र में इस महाकल्पसूत्र का उल्लेख किया हुआ होने से मानने लायक है फिर भी नहीं माने तो उसे नंदीसूत्र की आज्ञा भंग का दोष लगता है।

(३)

श्री भगवती सूत्र में तुंगीया नगरी के श्रावकों के अधिकार में कहा है कि—

"ण्हाया कय बलिकम्मा"।

अर्थात् "स्नान करके देव पूजा की"

(४)

श्री उववाईसूत्र में चंपानगरी के वर्णन में कहा है कि—

"बहुलाइं अरिहंतचेइआइं"

अर्थात्—'अरिहंत के बहुत से जिनमन्दिर हैं' तथा शेष नगरियों में जिनमन्दिर सम्बन्धी चंपानगरी की भलामण की है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में चंपानगरी के साथ साथ दूसरे शहरों में भी गली गली में मन्दिर थे।

(५)

तथा श्री आवश्यक के मूल पाठ में कहा है कि—

"तत्तो य पुरिमताले वग्गुर ईसाण अच्चए पडिमं।
मल्लि जिणायण पडिमा उण्णाए वंसि बहुगोठी" ॥१॥

भावार्थ—पुरिमताल नगर के रहने वाले वग्गुर नाम के श्रावक ने प्रतिमा पूजन के लिये श्री मल्लिनाथ स्वामी का मन्दिर बनवाया।

(६)

श्री भगवती सूत्र में जंघाचरण और विद्याचरण मुनियों ने श्री जिनप्रतिमा को वंदन करने का अधिकार बीसवें शतक के नवें उद्देश में कहा है—

"नंदीसरदीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इहमागच्छइ इहमागच्छइत्ता, इह चेइआइं वंदइ ।।"

भावार्थ :—(जंघाचरण व विद्याचरण मुनि) श्री नंदीश्वर द्वीप में समवसरण करते हैं। उसके बाद वहाँ के शाश्वत चैत्यों (जिनमंदिरों) को वंदना करते हैं। वंदना करके यहाँ भरतक्षेत्र में आते हैं और आकर यहाँ के चैंत्यों (अशाश्वत् प्रतिमाओं) की वंदना करते हैं।

(७)

श्री भगवतीसूत्र में अमरेन्द्र के अधिकार में तीन शरण कहे हैं। वे नीचे माफिक हैं—

'अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा भाविअप्पणो अणगारस्स

भावार्थ—(१) श्री अरिहंत देव (२) श्री अरिहंत देव के चैत्य (प्रतिमा) और (३) भावित है आत्मा जिनकी ऐसे साधु, इन तीनों की शरण जानना।

(८)

श्री आचारांग के प्रथम उपांग श्री उववाई सूत्रानुसार अंबड़ श्रावक तथा उसके सात सौ शिष्यों ने अन्य देव गुरु की वंदना का निषेध कर श्री जिनप्रतिमा तथा शुद्ध गुरु को नमस्कार करने का नियम लिया है। वह सूत्र-पाठ नीचे माफिक है :—

"अंबडस्स परिवायगस्स नो कप्पइ अन्नइत्थिए वा अन्न-उत्थिय देवयाइं वा अन्नउत्थिअपरिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं वा वंदित्तएवान नमंसित्तए वा, नन्नत्थ अरिहंते वा अरिहंत चेइआइं वा"

अन्य तीर्थी के प्रति अथवा अन्य तीर्थों के देव के प्रति अथवा अन्य तीर्थियों ने ग्रहण किये हों ऐसे अरिहंत के चैत्य (प्रतिमा) के प्रति वंदना, स्तवना तथा नमस्कार करना अंबड संन्यासी के लिए वर्जित है परन्तु अरिहंत अथवा अरिहंत की प्रतिमा को नमस्कार करना वर्जित नहीं है।

(६)

छठे अंग श्री ज्ञातासूत्र में द्रौपदी श्राविका के सत्रह भेदों की द्रव्य भाव पूजा में "नमोत्थुणं अरिहंताणं" कहने का पाठ आता है :—

"तए णं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, मज्जणघरं अणुप्पविसइ, ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगल-पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं परिहिया मज्जणघराओ पडिणिणिक्खमइ, जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुप्पविसइ अणुपविसइत्ता आलोए जिणपडिमाणं, पणामं करेइ, लोमहत्थयं परामुसइ एवं जहा सुरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ तहेव भाणिअव्वं जाव धुवं डहइ, धूवं डहइत्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेइता दाहिणजाणुं धणितलंसि निहट्टु तिखुतो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ निवेसेइत्ता ईसिरपच्चुण्णमइ २ करयल जाव कट्टु एवं वयासी-नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जावसंपत्ताणं वंदइ णमंसइ जिनघराओ पडिणिक्खमइ।"

इसका भावार्थ इस प्रकार है। इसके बाद वह द्रौपदी नाम की राजकन्या स्नान गृह के स्थान पर आती है और आकर मज्जनघर में प्रवेश करती है। प्रवेश कर पहले स्नान करती है। फिर

बली कर्म अर्थात् घरमंदिर की पूजा करके मन की शुद्धि के लिये कौतुक मंगल करनें वाली वह, शुद्ध दोष रहित पूजन योग्य, बड़े जिनमंदिर में जानें योग्य प्रधानवस्त्र पहनकर मज्जन घर में से निकलती है और निकलकर जहाँ जिनमंदिर है उस स्थान पर आती है। आकर जिनघर में प्रवेश करती है तथा तत्पश्चात् मोरपंख द्वारा प्रमार्जन करती है। बाकी जैसे सूर्याभदेव ने प्रतिमा पूजन की उसी विधि से सत्तर प्रकार से पूजा करती है। धूप करती है। धूप करके बांया घुटना ऊपर रखती है व दाहिना घुटना जमीन पर स्थापित करती है। तीन बार पृथ्वी पर मस्तक झुकाती है तथा फिर थोड़ी नीचे झुककर, हाथ जोड़कर, दस नाखून शामिल कर, मस्तक पर अंजलि कर ऐसा कहती है—'अरिहंत भगवान् को नमस्कार हो' जब तक सिद्ध-गति को प्राप्त हुए तब तक अर्थात् संपूर्ण शक्रस्तव बोलनी है। वंदन-नमस्कार करने के बाद मंदिर में से बाहर निकलती हैं।

(मज्जन घर में द्रोपदी ने घर-मंदिर की पूजा की है। उसके बाद अच्छे वस्त्र पहन कर बाहर मन्दिर में गई है। इसी प्रकार अब भी कई श्रावक करते हैं)

(१०)

श्री उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक द्वारा जिनप्रतिमा के वंदन का पाठ है। वह नीचे माफिक है—

"नो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थि ये वा, अन्नउत्थियदेवयाणि वा, अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि अरिहंत-चेइयाणि वा वंदित्तए वा नभंसित्तए वा"

भावार्थ—हे भगवन् ! मेरे आज से लेकर अन्यतीर्थी (चरकादि), अन्यतीर्थी के देव (हरि हरादि) तथा अन्य तीर्थियों

द्वारा ग्रहण किये हुए अरिहंत के चैत्य (जिन प्रतिमा) आदि को वंदन-नमस्कार करना वर्जनीय है।

अन्य देव तथा गुरु का निषेध होने पर जैनधर्म के देव-गुरु स्वयमेव वंदनीय हो जाते हैं। फिर भी कोई कुतर्क करे तो उसे पूछे कि, "आनन्द ने अन्य देवों की, चारों निक्षेपे से वंदना का त्याग किया अथवा भाव निक्षेप से"? अगर कहोगे कि, 'अन्य देवों के चारों निक्षेपों का निषेध किया है' तब तो स्वतः सिद्ध हुआ कि अरिहंत देव के चारों निक्षेपा उसे वन्दनीय हैं। यदि अन्य देवों के भाव निक्षेप का निषेध करने का कहोगे तो उन देवों के शेष तीन निक्षेप अर्थात् अन्य देव की मूर्ति, नाम आदि आनन्द को वन्दनीय होंगे और इस तरह करने से व्रतधारी श्रावक को दोष लगेगा ही। अन्य देव हरिहरादि कोई आनन्द के समय में साक्षात मौजूद नहीं थे। उनकी मूर्तियाँ ही थीं, तो बताओ कि उसनें किसका निषेध किया ? यदि कहोगे कि, 'अन्य देवों की मूर्तियों का' तो फिर अरिहंत की मूर्ति स्वतः सिद्ध हुई। जैसे किसी के रात्रि भोजन का त्याग करने पर उसे दिन में खाने की छूट अपने आप हो जाती है।

इस पाठ में "चैत्य" शब्द का अर्थ "साधु" करके कितने ही लोग उल्टा अर्थ लगाते हैं। उनसे पूछें कि—'साधुको अन्य-तीर्थी किस तरह ग्रहण करे ? यदि जैन साधु को अन्य दर्शनियों ने ग्रहण किया हो अर्थात् गुरु माना हो और वेष भी बदल दिया हो तो वह साधु अन्य दर्शनी बन गया। फिर वह किसी भी प्रकार से जैन साधु नहीं गिना जा सकता। जैसे शुकदेव संन्यासी ने थावच्चा पुत्र के पास दीक्षा ली उससे वह जैन साधु कहलाये पर जैन परिगृहीत संन्यासी नहीं कहलाये। वैसे ही साधु भी

अन्यतीर्थी परिगृहीत नहीं कहलाते। अतः चैत्य शब्द का अर्थ साधु करना, यह सर्वथा गलत है।

तर्क—चैत्य शब्द का अर्थ यदि प्रतिमा करें तो उस पाठ में आनन्द ने कहा है कि—'मैं अन्य तीर्थी को, अन्य देव को तथा अन्य तीर्थी के द्वारा ग्रहण की हुई जिन प्रतिमा की वंदना स्तवना नहीं करूंगा व दान नहीं दूंगा। ऐसी दशा में प्रतिमा के साथ बोलने का तथा दान देने का कैसे संभव है?

समाधान—सूत्र का गंभीर अर्थ गुरु बिना समझना कठिन है। सूत्र की शैली ऐसी है कि जो शब्द जिस २ के साथ संभव हों उनको उनके साथ जोड़कर उनका अर्थ करना चाहिये नहीं तो अनर्थ हो जाय। इससे अन्य दर्शी गुरु के लिए बोलने तथा दान देने का निषेध समझना व प्रतिमा के लिये वंदन करने का निषेध समझना। यदि तीनों पाठों की अपेक्षा साथ में लोगे तो तुम्हारे किये हुए अर्थ के अनुसार आनन्द का कथन नहीं मिलेगा क्योंकि इस समय हरिहरादि कोई देव साक्षात् रूप से विद्यमान नहीं थे। उनकी मूर्तियाँ थीं। उनके साथ बोलने का तथा दान देने का अर्थ तुम्हारे अनुसार कैसे बैठेगा?

(११)

सिद्धार्थ राजा के द्रव्यपूजा करने का वर्णन श्री कल्पसूत्र में इस प्रकार है—

"तए णं सिद्धथे राया दसाहियाए ठिइवडियाए वट्टमाणीय सइए अ साहस्सिए अ, सयसाहस्सिए अ, जाए अ,.... .... लंभे पडिच्छमाणे अ पडिच्छावमाणे अ एव वा विहरइ"

भावार्थ :—उसके बाद सिद्धार्थ राज़ा, "दस दिन तक महोत्सव के रूप में कुल मर्यादा का पालन करते हैं जिसमें सौ, हजार अथवा लाख द्रव्य लगे, ऐसे याग—अरिहंत-भगवंत की प्रतिमा की पूजा करते हैं, औरों से करवाते तथा बधाई को स्वयं ग्रहण करते हैं तथा सेवकों द्वारा ग्रहण करवाते हुए विचरण करते हैं।

शंका—सिद्धार्थ राजा ने यज्ञ किया था पर पूजा कहाँ की थी ?

समाधान—सिद्धार्थ राजा श्री पार्श्वनाथ स्वामी के बारह व्रतधारी श्रावक थे, ऐसा श्री आचारांग सूत्र में कहा है। तो विचार करें कि घोड़े, बकरे आदि पशुवध का यज्ञ वे कभी करें या करावें क्या ? लंभ अर्थात् बधाई। व्याकरण के आधार पर यज शब्द देवं पूजयामीति वचनात्, देव पूजा वाची है। श्रावक तो जिनयज्ञ-पूजा करता है। परम सम्यकत्वधारी श्रावक सिद्धार्थ राजा श्री जिनमंदिर में द्रव्य पूजा करने से बारहवें देवलोक (किसी मत से चौथे देवलोक) में जाने का सूत्र में कहा हैं। यदि हिंसक यज्ञ करने वाले होते तो निश्चय ही नरक में जाने चाहिये, परन्तु सिद्धार्थ राजा के मोक्षगामी जीव होने का, श्री वीर परमात्मा ने फरमाया है। चौबीस तर्थंकरों के माता-पिता निश्चय ही मोक्षगामी जीव ही होते हैं।

(१२)

श्री व्यवहार सूत्र में कहा है कि साधु जिनप्रतिमा के सम्मुख आलोचना लेता है।

(१३)

श्री महानिशीथ सूत्र के चौथे अध्ययन में श्री जिनमंदिर बनवाने वाले को बारहवें देवलोक अर्थात् दान, शील, तप तथा भावना की आराधना से जिस फल की प्राप्ति होती है वह फल प्राप्त होता है, ऐसा फरमाया है।

काउंपि जिणाययणेहिं, मंडियं सव्वमेइणीवट्टं ।
दाणाइचउक्केण सड्ढो, गच्छेज्ज अच्चुयं जाव न परं ॥१॥

भावार्थ—पृथ्वीतल को जिनमंदिरों से सुसज्जित करके तथा दानादि चारों (दान, शील, तप और भाव) करके श्रावक अच्युत-बारहवें देवलोक तक जाता है उससे ऊपर नहीं।

(१४)

पुनः उसी सूत्र में अष्ट प्रकार की पूजा आदि का विस्तार से वर्णन है। उसे जानने के इच्छुक लोगों को उसे देखना चाहिये।

(१५)

श्री आवश्यक सूत्र में भरत चक्रवर्ती के श्री जिनप्रसाद बनवाने का उल्लेख है।

"थूभसयभाउगाणं, चउवीसं चेव जिणहरे कासी ।
सव्वजिणाणं पडिमा, वण्णपमाणेहिं निअएहिं ॥१॥"

अर्थ—एक सौ भाई के सौ स्थंभ तथा चौबीस तीर्थंकर महाराज का जिनमंदिर जिसमें सारे तीर्थंकरों की उनके वर्ण तथा शरीर के प्रमाणवाली प्रतिमाएँ श्री अष्टापद पर्वत पर भरत राजा ने स्थापित की।

(१६)

श्री आवश्यक सूत्र में कहा है कि :—

"अंतेउरे चेइयहरं कारियं पभावती ण्हाता, तिसंज्झं अच्चेइ, अन्नया देवी णच्चेइ, राया वीणं वायेइ"

भावार्थ—प्रभावती रानी ने अन्त:पुर में चैत्यघर (जिन-भुवन) बनवाया। उस मंदिर में रानी स्नान करके प्रात:काल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल त्रिकाल पूजन करती है। किसी समय रानी नृत्य करती है तथा राजा स्वयं वीणा वादन करता है।

(१७)

श्री "शालीभद्र चरित्र" जिसे प्राय: तमाम जैन मानते हैं, में कहा है कि :—

"शालीभद्र के घर में उनके पिता ने जिनमंदिर बनवाया था तथा रत्नों की प्रतिमाएँ बनवाई थी। वह मंदिर अनेक द्वारों सहित, देवविमान जैसा बनाया गया था।"

(१८-१९-२०)

श्री भगवती, श्री रायपसेणी और श्री ज्ञातासूत्रादि अनेक सूत्रों में श्रावकों के वर्णन में "ण्हाया कयबलिकम्मा।" अर्थात् "स्नान करके देवपूजा करना" ऐसे उल्लेख हैं। श्री भगवतीजी में तुंगीया नगरी के श्रावक के अधिकार में कहा गया है कि— "श्रावक यक्ष, नाग आदि अन्य देवों को नहीं पूजे" तथा श्री सूयगडांग सूत्र में भी कहा है कि 'नागभूतयक्षादि' तेरह प्रकार के अन्य देवों की प्रतिमा को पूजने से मिथ्यात्वपन प्राप्त होता है तथा बोधिबीज का नाश होता है। इससे सिद्ध होता है कि

"श्री अरिहंतदेव की प्रतिमा को पूजनें से समकित की प्राप्ति होती है तथा बोधिबीज की रक्षा होती है। इस कारण "कयबलीकम्मा" पाठ से श्रावकों को श्री जिनप्रतिमा की पूजा करनी, ऐसा इसका अर्थ हुआ।

कितने ही "न्हाया कयबलीकम्मा" का "स्नान करके फिर पानी के कुल्ले किये" ऐसे शास्त्र के बिल्कुल विपरीत अर्थ करते हैं, जो असत्य है।

भावनिक्षेप से साक्षात् तीर्थंकर को वंदन-पूजन करने का जो फल है तथा सम्यक्त्व और ज्ञान सहित चारित्र पालने का जो फल सूत्र में बताया है, वही फल श्री जिनप्रतिमा के वंदन पूजन का कहा है। यावत् मोक्ष प्राप्ति तक का बतलाया है।

(२१)

श्री ज्ञातासूत्र में तीर्थंकर गोत्र-बंध के लिए बीस स्थानक कहे हैं। उनमें "सिद्धपद की आराधना करना" "ऐसा फरमाया है। उन अरूपी सिद्ध भगवान का ध्यान-आराधन उनकी मूर्ति बिना हो ही नहीं सकता। श्री व्यवहार सूत्र में कहा है कि—

"सिद्धवेयावच्चेणं महानिज्जरा महापज्जवसाणं चेवत्ति।"

सिद्ध भगवान् की वैयावच्च करने से महानिर्जरा होती है अर्थात् मोक्ष मिलता है।

तर्क—सिद्ध भगवान् की वैयावच्च तो नाम-स्मरण से ही हो जाती है तो फिर मूर्ति का क्या प्रयोजन ?

उत्तर—नामस्मरण को तो गुणगान, कीर्तन, भजन, स्वाध्याय आदि कहते हैं, वैयावच्च नहीं। यदि वैयावच्च का

अर्थ ऐसा करोगे तो श्री प्रश्नव्याकरण में बालक की, वृद्ध की, रोगी की तथा कुलगणादि की दस प्रकार से साधु को वैयावच्च करनी चाहिये तो क्या केवल नाम स्मरण से वैयावच्च हो जायेगी ? अथवा आहार-पानी, औषधि, अंगमर्दन, शय्या, संथारा आदि करने से होगी ? नाम आदि याद करने से वैयावच्च नहीं गिनी जाती, पर पूर्वोक्त प्रकार से सेवा भक्ति करने से ही गिनी जायगी। सिद्ध भगवान् की वैयावच्च तो उनका मन्दिर बनवाकर, उसमें उनकी मूर्ति स्थापित कर, वस्त्राभूषण, गंध, पुष्प, धूप दोप द्वारा अष्ट प्रकारी व सत्रह प्रकारी आदि पूजा करना, उसे ही कहा जायगा।

(२२)

श्री प्रश्नव्याकरण में आदेश है कि निर्जरा के अर्थी साधु को "चेइयट्ठे" अर्थात् जिनप्रतिमा की हीलना, उसका अवर्णवाद तथा उसकी दूसरी भी आशातनाओं का उपदेश द्वारा निवारण करना चाहिये।

(२३)

श्री आवश्यक मूल सूत्र पाठ में—

"अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सगं"

ऐसा कहकर, साधु तथा श्रावक, सर्वलोक में रही हुई श्री अरिहंत की प्रतिमा का काउस्सग्ग, बोधि बीज के लाभ के लिये करे—ऐसा फरमाया है।

(२४)

"थयथुइ मंगलं"

स्थापना की स्तुति करने से जोव सुलभबोधि होता है—ऐसा श्री उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है।

(२५-२६)

श्री अनुयोगद्वार तथा श्री ठाणांग सूत्र में चारों निक्षेप और चार प्रकार के तथा दस प्रकार के सत्यों का वर्णन किया हुआ है जिसमें स्थापना निक्षेप तथा स्थापना सत्य भी आता है। उससे भी स्थापना अर्थात् मूर्ति को मानने की बात सिद्ध हो जाती है।

दुराग्रह रहित बुद्धिमान् लोगों के लिए केवल संकेत ही काफी है। सूत्र के सैंकड़ों पाठों में से केवल इतने ही पाठ देना उचित समझते हैं। और भी कई प्रमाण प्रसंग आने पर बताये जायेंगे।। उस पर से विद्वान् पाठकगण वास्तविक निर्णय कर सकेंगे। अगर जैनों में परंपरा से मूर्तिपूजा न होती तो उसका उल्लेख मूल सूत्रों में आया कहाँ से? जगत् में प्रत्येक नामवाली वस्तु अपने गुण विशेष से जुड़ी हुई है वैसे ही 'मूर्ति' नामधारी वस्तु भी किसी प्रकार निरर्थक नहीं है। 'मूर्ति' शब्द भी उसमें रही हुई वस्तु का वास्तविक बोध कराती है। वह स्थापना सिवाय अन्य किसी भी विषय के कारण से सिद्ध नहीं होती।

प्रश्न ४५—प्रतिमा को जिनराज के तुल्य मानना और उसे आभूषण आदि चढ़ाना, पुष्प, धूप, स्नान, विलेपनादि करना, क्या यह उचित है ? क्या यह क्रिया त्यागी को भोगी बनाने जैसी नहीं है ?

उत्तर—त्यागी और भोगी का अन्तर जो जानता है, वह ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता। अर्हंत शब्द का व्याकरण की दृष्टि से अर्थ निम्नानुसार है।

अरिहंति वंदणनमंसणाइ, अरिहंति पूअसक्कार ।
सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति ।।

अर्थ—जो वंदन नमस्कार आदि के योग्य है, जो (इंद्र आदि देवों के किये हुए आठ प्रतिहार्य रूप) पूजा एवं सत्कार के योग्य है और जो सिद्धि गति की प्राप्ति के योग्य है, उसे अरहंत कहा जाता है। इस प्रकार अर्हंत नाम ही द्रव्य पूजा का सूचक है।

जिसके राग द्वेष जड़मूल से उखड़ गये हैं, वे दूसरे के द्वारा की हुई पूजा से भोगी अथवा रागी कैसे बन सकते हैं? राग की उत्पत्ति का कारण मोह-ममता है और वह सर्वथा नष्ट हो चुकी है, तो वे इसमें किस प्रकार लिप्त हो सकते हैं? यदि पूजा से भोगी बन जायेंगे तो क्या निंदा से निंदनीय बन जायेंगे? नहीं। पूजा अथवा निंदा से उनकी महिमा बढ़ती घटती नहीं। पूजा तथा निंदा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। पूजक अगर निंदक पुरुष को ही वे क्रियाएँ शुभाशुभ फल देने वाली हैं भगवान् को केवल-ज्ञान होने के पश्चात् आठ प्रतिहार्य होने का श्री समवायांग सूत्र में विगतवार वर्णन है—

(१) अशोक वृक्ष भगवान् को छाया करता है।

(२) देवता जल-थल में उत्पन्न पंचरंगी फूलों को घुटनों तक बरसाते हैं।

(३) आकाश में देव दुंदुभि बजती है।

(४) दोनों ओर चँवर ढुलते हैं।

(५) प्रभु के बैठने के लिये रत्नजड़ित स्वर्ण सिंहासन हमेशा साथ रहता है।

(६) रत्नमय तेज के अंबाररूप भामंडल भगवान् के पीछे रहता है।

(७) दिव्य ध्वनिरूप प्रातिहार्य द्वारा मनोहर वीणा का स्वर होता है।

(८) एक ऊपर दूसरा, ऐसे तीन २ छत्र प्रभु के सिर पर रहते हैं।

और लाखों, करोड़ों देव जय जयकार की ध्वनि से स्तुति करते हुए साथ रहते हैं। देव समवसरण बनाते हैं, जिसमें चाँदी का गढ़ और सोने के कंगूरे, सोने का गढ़ और रत्न के कंगूरे, रत्न का गढ़ और मणिमय कंगूरे होते हैं और बीस हजार सीढ़ियाँ एक तरफ़ होती हैं; भगवान् रत्नमय सिंहासन पर विराजमान होकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके देशना देते हैं। शेष तीन दिशाओं में देवता भगवान् की तीन मूर्तियाँ स्थापित करते हैं। इन दिशाओं से आने वाले लोग तथा तिर्यंच उनको साक्षात् प्रभु जानकर नमस्कार करते हैं।

प्रभु एक अपने मुख से तथा तीन दिशाओं में मूर्ति के मुख से, इस प्रकार चार मुखों से अतिशय द्वारा देशना देते हैं। चलते समय भगवान् स्वर्ण कमल पर पैर रखकर ग्रामानुग्राम विहार करते हैं, सुगंधित पवन, सुगंधित जल का छिटकाव और पुण्यवान् पुरुषों के लायक अनेक दिव्य पदार्थ प्रकट होते हैं। इतने पदार्थों का सेवन करने वाले तीर्थंकरों का त्यागीपन गया नहीं, कर्म लगे नहीं, भोगी बने नहीं, फिर मुक्त परमेश्वर की मूर्ति के सम्मुख पूजक की द्रव्यपूजा से उन पर भोगी बनने का आरोप अथवा आक्षेप करना मात्र अज्ञानता के सिवाय और क्या है ?

भोगीपन बाह्य पदार्थों से नहीं होता। वह तो आंतरिक

मोह के परिणाम के आधीन है। ऐसे मोह को तो भगवान् ने पहले से ही देश निकाला दे दिया है। अलिप्त भगवान् को जैसे पूजा से राग नहीं, वैसे निंदा से द्वेष भी नहीं। जो जिस तरह करता है उसे उसी प्रकार का फल अपनी आत्मा के लिये प्राप्त करता है। जैसे सूर्य की ओर कोई थूके अथवा स्वर्ण मोहर फेंके तो वह फेंकने वाले की तरफ लौट कर आती है। सूर्य को उससे कुछ लगता नहीं। इसी प्रकार परमात्मा की पूजा अथवा निंदा से भी निंदक को ही, लाभ—हानि होती है।

श्री तीर्थंकर देव जन्म से लेकर निर्वाण तक पूजनीय और वंदनीय हैं क्योंकि निंदनीय वस्तु के चारों निक्षेप जैसे निंदनीय होते हैं, वैसे ही पूजनीय वस्तु के चारों निक्षेप पूजनीय होते हैं।

द्रव्य निक्षेप से पूर्व जन्मावस्था का आरोपण कर जैसे इंद्रादि देवों ने स्नान करवाया, वैसे प्रभु को जल से स्नान कराके ऐसी भावना धारण करें कि—"हे प्रभु! जैसे जल प्रक्षालन से शरीर का मैल दूर होता है और बाहरी ताप का नाश होता है वैसे ही भाव रूप पवित्र जल से मेरी आत्मा के साथ रहने वाले कर्ममैल का नाश हो।" और "विषय कषाय के ताप का उपशम हो" तथा यौवनावस्था या राज्यावस्था का आरोपण कर वस्त्र, आभूषण आदि पहनाने में आते हैं उस समय सोचना कि 'अहो प्रभु! आपको धन्य है कि इस प्रकार वस्त्राभूषण, राजपाट को छोड़कर, संयम ग्रहण कर, आपने अनेक भव्य जीवों का उद्धार किया। मैं भी अपनी अल्पबुद्धि और परिग्रह को छोड़कर ऐसा कब बनूँगा!

इस प्रकार केसर, चन्दन, नैवेद्यादि चढ़ाकर, सभी स्थानों पर अलग २ भावना भावित करने में आती है तथा केवली अवस्था

का आरोपण कर नमस्कार-स्तुति आदि की जाती है। श्री वीतरागदेव गृहस्थावस्था में वस्त्र तथा आभूषण के भोगी थे, परन्तु उस अवस्था में भी मन से तो त्यागी ही थे। परन्तु तीर्थंकर पदवी का निकाचित पुण्य उपार्जन करके आये होने से प्रातिहार्यादि बाह्य ऋद्धि भी आकर प्राप्त होती है और निर्लिप्त भाव से इसका भी भोग करना पड़ता है। परन्तु उस समय भी वे राग-द्वेष रहित शुद्ध भाव में होने से उनको नये कर्म बंधन नहीं होते हैं। राग-द्वेष की चौकड़ी मिलती है तभी कर्म बंधन होते हैं।

वीतराग प्रभु का खान-पान, बैठना-उठना आदि सब मोह-ममत्व रहित होने से बंध के नहीं, परन्तु निर्जरा के हेतु हैं जबकि अज्ञानी लोग उन सभी कार्यों में मोहित हो जाने से कर्म बंध करते हैं।

प्रभु तो वीतराग हैं, निरागी हैं, तो फिर उनकी वस्त्रलंकार द्वारा पूजा करने से उनके निरागीपन में लेशमात्र भी न्यूनता कैसे आ सकती है? भगवान् की तीन अवस्था में प्रथम पिण्डस्थ अवस्था के तीन भेद हैं :—

(१) जन्मावस्था—नहलाना, पक्षालन करना, अंग पोंछना आदि करना, यह–जन्मावस्था की भावना है।

(२) राज्यावस्था—केसर, चन्दन, फूलमाला, आभूषण, अंगरचना आदि करना, यह–राज्यावस्था की भावना है।

(३) श्रमणावस्था—भगवान् का केश रहित मस्तक, कायोत्सर्गासन आदि का चिंतन करना, यह श्रमणावस्था की भावना है।

दूसरी पदस्थ अवस्था—पद कहने से श्री तीर्थंकर पद। इसमें केवलज्ञान से लगाकर निर्वाण पर्यंत की केवली अवस्था का चिंतन करने का है। इस अवस्था में प्रभु आठ

प्रातिहार्य सहित होते हैं तथा रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठते हैं। सोने का लगातार स्पर्श पाकर भी उनका वीतराग भाव चला नहीं जाता और यदि चला जाता होता तो गणधर महाराज तथा इंद्रादिदेव किसलिये वीतराग कहकर उनकी स्तुति करते ? वीतरागपन का भाव यह कोई बाह्य पदार्थ नहीं, परन्तु आंतरिक वस्तु है।

तीसरी रूपातीत अवस्था—यह रूप बिना सिद्धपणे की अवस्था हैं। प्रभु को पर्यंकासन पर काऊसग्ग ध्यान में शांत मुद्रा में, बैठे हुए देखकर रूपातीत अवस्था की भावना करने की है। ऐसी दशा में प्रभु को देखकर इस अवस्था का चिंतन करने में आत्मा को अपूर्व शांति प्राप्त होती है।

जो प्रातिहार्यादि पूजा को नहीं मानते, उन्हें तो केवल निर्वाण अवस्था को ही मानना चाहिये, पर ऐसा तो तभी हो सकता है, कि जब भगवान् की एकांत निर्वाण अवस्था ही पूजनीय हो तथा अन्य अवस्थाएँ अपूजनीय हों। प्रभु की समस्त अवस्थाएँ पूजनीय हैं, इसलिये उनको पूजने की रीति भी उपरोक्त तीन प्रकार से शास्त्रकारों ने बतलाई है।

यहां एक बात यह भी समझने की है कि जिन साधुओं को लोग वंदना करते हैं, पूजा करते हैं वे त्यागी हैं अथवा भोगी ? यदि त्यागी हैं तो वे आहार पानी आदि का उपयोग क्यों करते हैं ? वंदन-नमस्कार क्यों स्वीकार करते हैं ? वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने से क्या वे भोगी, अभिलाषी या तृष्णावान सिद्ध नहीं होते हैं ? यदि नहीं तो जिस प्रकार साधु महात्मा राग-रहित होकर पूर्वोक्त वस्तु को उपयोग में लेकर, संयम साधना करते हैं; फिर भी भोगी नहीं बन जाते, उसमें लिप्त

नहीं होते, बल्कि सेवक पुरुष यथोचित भक्ति कर अपना आत्म-कल्याण साधते हैं, वैसे ही श्री वीतरागदेव की पूजा के लिये भी समझने का है !

प्रश्न ४६—भगवान् तो साधु हैं। उनको कच्चे पानी से स्नान करवाने में धर्म किस प्रकार होता है ?

उत्तर—ऊपर बताये अनुसार भगवान् तो जन्म से पूजनीय होने से, जन्मावस्था आरोपित कर स्नान तथा यौवनावस्था आरोपित कर, उनको वस्त्राभूषण पहनाये जाते हैं।

जैसे श्रद्धालु श्रावकों को ज्ञात होता है कि कोई पुरुष या स्त्री दीक्षा ग्रहण करने वाली है, तो उसे एक दो महीने तक घर-घर भोजन कराया जाता है, स्नान कराकर, वस्त्राभूषण पहनाकर, वर-घोड़े पर चढ़ाकर घुमाया जाता है। यह सब सगाई-सम्बन्ध के निमित्त नहीं पर केवल भक्ति के निमित्त ही किया जाता है, पर इसके उपरान्त भी जब वही साधु बन जाता है तब उन सब में से कुछ भी नहीं किया जा सकता अर्थात् भाव निक्षेप के आश्रित कार्य तथा द्रव्य निक्षेप के आश्रित कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। भगवान् को स्नान आदि कराकर अलंकारों से विभूषित करने का कार्य द्रव्य निक्षेप की भक्ति के आश्रित है न कि भाव निक्षेप के आश्रित। मूर्ति की भक्ति चारों निक्षेपों से करने की होती है।

श्री तीर्थंकर महाराजाओं ने तो चारों घाती कर्मों का नाश कर डाला है, कर्मबंधन के मूल मोह को जलाकर राख कर दिया है। वीतराग होने के कारण नये कर्मों का बन्धन उन्हें नहीं होता, ऐसा श्री भगवती तथा श्री पन्नवणा आदि सूत्रों में फरमाया है।

जब साधु को चार कषाय, छः लेश्या और आठ कर्म खपाने के शेष है तो ऐसी दशा में सामान्य साधु और भगवान् की पूजा का कल्प एक समान कैसे हो सकता है ? भगवान् स्वर्ण-सिंहासन पर बैठते हैं, पर सामान्य साधु यदि सोने का स्पर्श भी करता है, तब भी दोष लगता है क्योंकि साधु के लिए मोह पैदा करने का वह कारण है।

भगवान् को पच्चीस क्रियाओं में से एक ईर्यापथिकी (मार्ग पर चलने की) मात्र क्रिया लगती है और उससे भी प्रथम समय में कर्म बंध होता है, द्वितीय समय में वह कर्म भोगते हैं तथा तृतीय समय में नाश करते हैं। अतः कहाँ तो केसरी सिंह और कहाँ हिरन ? कहाँ चक्रवर्ती राजा और कहाँ भिक्षुक ? इस प्रकार श्री वीतराग देव और वेषधारी साधु में महान् अन्तर है और इसीलिए दोनों की पूजा का व्यवहार भी एक समान कैसे हो सकता है ?

मूर्ति भगवान् के गुणों का स्मरण कराने का एक आलंबन है, इसलिए कच्चे पानी से स्नान का दोष उसे किस प्रकार लग सकता है ? साक्षात् प्रभु की पूजा का तथा उनकी मूर्ति की पूजा का कल्प तो अलग-अलग ही रहने का है। जैसे साक्षात् प्रभु को रथ में बिठाकर उनकी भक्ति नहीं की जाती, जबकि प्रभु की मूर्ति को भक्ति के लिए सभी रथ में बिठाते हैं। भाव अरिहंत एवं स्थापना अरिहंत की भक्ति करने की प्रणाली में कई प्रकार से अन्तर पड़ता है।

प्रश्न ४७—भगवान् तो आधाकर्मी या अव्याहृत आहार काम में नहीं लेते तो फिर उनकी मूर्ति के सामने बना हुआ, बिकाऊ लाया हुआ अथवा सामने लाया हुआ आहार कैसे रक्खा जाता है ?

उत्तर—आधाकर्मी आहार न लेने सम्बन्धी विचार तो दीक्षा लेने के बाद का है और नैवेद्यादि द्रव्यपूजा तो उसके पूर्व की अवस्था का विषय है, यह खुलासा ऊपर हो चुका है। जैसे साधु होने वाले व्यक्ति को घर-घर भोजन कराया जाता है पर साधु होने के बाद नहीं अर्थात् नैवेद्यादि पूजा द्रव्य निक्षेप के आश्रय से है, भाव निक्षेप के आश्रय से नहीं। जैसे इन्द्रदेव तथा अन्य देव भगवान् के जन्म महोत्सव के समय कई उत्तम द्रव्यों से प्रभु की अर्चना करते हैं तथा बाद में भी देवता-गण बारम्बार ऐसी भक्ति करते हैं वैसे ही प्रभु की छद्मावस्था के कारण उपर्युक्त भक्ति का विधान है। अतः उसमें दोषा-रोपण करना व्यर्थ है।

प्रश्न ४८—छोटी सी मूर्ति के आगे नैवेद्य के ढेर लगा दिए जाते हैं। क्या यह अनुचित नहीं है? क्या मूर्ति को खाने की आवश्यकता रहती है?

उत्तर—यह प्रश्न सर्वथा व्यर्थ है। नैवेद्य मूर्ति के खाने के लिए नहीं रक्खा जाता किन्तु पूजा करने वाला अपनी भक्ति के लिए ऐसा करता है। पूज्य को इससे कोई प्रयोजन नहीं रहता।

मूर्ति खाती नहीं, इसीलिये उसके सामने यह विनंति करने की है कि, "हे प्रभु! आप निर्वेदी तथा सदा अनाहारी हो। आपके सामने मैं यह आहार इस भाव से रखता हूँ कि मैं इस आहार तथा नैवेद्य का बिल्कुल त्याग कर सदा के लिये आपके जैसा अनाहारी पद (मोक्ष) प्राप्त करूँ तथा हे देवाधिदेव! यह आहार अनेक पापारंभ करके तैयार किया है और यह आहार यदि मैं खाऊँगा तो फिर इसके आस्वादन से

मुझ में राग-द्वेष की भावना जागृत होगी। जितना आहार मैं आपको अर्पित करूँगा उतने आहार सम्बन्धी रागद्वेष की भावना कम होगी, भक्ति का लाभ मिलेगा तथा परम्परा से मुक्तिफल का स्वाद चखने का सौभाग्य भी प्राप्त होगा।

प्रश्न ४९—भगवान् अपरिग्रही हैं। उनके सामने पैसे, टके आदि रखकर उन्हें परिग्रही बनाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यह कुतर्क भी ऊपर जैसा ही है फिर भी इस पर पुनः विचार करें। पहले तो परिग्रह किसे कहा जाता है ? खान, पान, वस्त्र, अलंकार, धन धान्य आदि आठ स्पर्श वाले पुद्गल हैं, नजरों से जिन्हें देखा जा सकता है, एक दूसरे को दिये जा सकते हैं पर अठारह पापस्थानक के पुद्गल चार स्पर्श वाले हैं जिनको केवली भगवान् के सिवाय अन्य कोई देख नहीं सकता और इससे पाप के पुद्गल एक दूसरे के देने से दिये नहीं जा सकते।

परिग्रह पाँचवा पापस्थानक है। मोह, ममत्व, तृष्णा आदि उसके प्रकार हैं। परमात्मा का मोह-ममता रूप परिग्रह तो पूर्ण रूप से जल कर खाक बन गया है और दूसरे के देने से अब दिया नहीं जा सकता तो फिर अपरिग्रही और निर्मोही भगवान् दूसरे के करने से परिग्रही और मोह वाले कैसे बन सकते हैं ?

और श्री जिनप्रतिमा के सामने द्रव्य चढ़ाते समय पूजक की भावना कैसी होती है, यह भी समझने योग्य है।

द्रव्य चढ़ाते समय पूजक यह सोचता है कि "हे प्रभु ! मैं धन जो अर्जित करता हूँ उसमें अनेक प्रकार के कर्मबंध होते हैं।

साथ ही उस धन को सांसारिक कार्यों में खर्च करने से उलटी विशेष पापवृद्धि होती है। ऐसी दशा में इस धन में से मेरे भाव के अनुसार जितना धन मैं आपकी भक्ति में खर्च करूँगा उस मात्रा में पापवृद्धि होती रुक जायेगी। इतना ही नहीं परन्तु इससे पुण्यानुबंधि पुण्य का सर्जन होगा। और अंत में यह धन मेरा तो है ही नहीं।

मेरा तथा उसका स्वभाव भिन्न है। मैं चेतन हूँ, वह जड़ है। अतः उस पर से जितनी मूर्छा मोह उतरे, उतनी मुझे उतारनी चाहिये। इस प्रकार अपने परिग्रह और अपनी मोह ममता घटाने के लिये प्रभुभक्ति आदि धार्मिक कार्यों में द्रव्य खर्च किया जाता है।

जितनी मात्रा में अच्छे कार्य में द्रव्य खर्च करने की इच्छा होती है उतनी मात्रा में तृष्णा कम होती है और जितनी मात्रा में धन संचय की इच्छा होती है उतनी मात्रा में परिग्रह और लोभवृत्ति की वृद्धि होती है।

मुनिजन भी संयम निर्वाह के लिये वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पदार्थ ग्रहण करते हैं। काया पुद्गल है, उसे भी वे धारण करते हैं। खान पान भी करते हैं। उनका शिष्य समुदाय भी होता है। ये सभी प्रकार से पुद्गल ही हैं। उन सबको यदि परिग्रह गिनोगे तो साधुओं का पाँचवा व्रत सर्वथा नष्ट हुआ समझना पड़ेगा और किसी भी साधु का मोक्ष नहीं हो सकेगा। परन्तु आज तक असंख्य मुनि मोक्ष में पहुँच गये और आगे भी जायेंगे। अतः जैसे साधु पुरुषों के पास पूर्वोक्त वस्तुएँ होते हुए भी, वे उसमें लिप्त तथा ममता वाले नहीं होने से अपरिग्रही ही कहलायेंगे, वैसे श्री वीतराग भी अपरिग्रही ही हैं।

मरुदेवी माता को हाथी की सवारी किये हुए तथा करोड़ों का अलंकार पहने हुए आंतरिक मोह के उपशमन के साथ ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया तथा छः खंड के स्वामी भरत चक्रवर्ती को गृहस्थावास में ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इससे स्पष्ट है कि केवल बाह्य पदार्थों के योग से ही परिग्रह नहीं कहा जा सकता।

बाहरी पदार्थों के योग को ही यदि परिग्रह कहा जाय तो एक भिखारी जिसके पास पहनने को वस्त्र, खाने को अन्न अथवा फूटी कौड़ी भी न हो तो उसे परम अपरिग्रही तथा महात्यागी समझना चाहिये। पर ऐसा तो कोई नहीं मानता, कारण यह है कि उन भिखारियों के पास बाह्य पदार्थ नहीं होते हुए भी उनमें आंतरिक परिग्रह यानी तृष्णा तो भरी हुई है, इसीलिये उनका कल्याण नहीं हो सकता।

इससे सिद्ध होता है, कि इच्छा तृष्णा, आदि पाप के पुद्गल प्रत्येक के स्वयं के अपने पास रहते हैं। उसे आप ले-दे नहीं सकते। जो निष्परिग्रही हैं वे जिस तरह दूसरों के करने से परिग्रही नहीं बनते उसी तरह वीतराग की भक्ति के निमित्त द्रव्य चढ़ाने से वीतराग परिग्रही नहीं बन जाते।

प्रश्न ५०—दान, शील, तप और भावना, ये चार प्रकार के धर्म हैं। उनमें मूर्तिपूजा किस प्रकार के धर्म में आती है ?

उत्तर—मूर्तिपूजा में चारों प्रकार के धर्म मौजूद हैं और वे नीचे माफिक हैं—

प्रथम सुपात्र दान धर्म—इसके दो भेद : (१) अकर्मी (कर्म रहित) सुपात्र दान। (२) सकर्मी सुपात्रदान। पात्र भी दो

प्रकार के हैं। एक रत्नपात्र तथा दूसरा स्वर्ण पात्र। श्री तीर्थंकर और सिद्ध कर्मरहित, आशा-तृष्णारहित रत्नपात्र हैं। उनको उत्तम पदार्थ अर्पण करना—अकर्मी सुपात्रदान गिना जाता है। दूसरा मकर्मी सुपात्र स्वर्णपात्र वह सुसाधु। उनको दान देना वह सकर्मी सुपात्रदान कहलाता है। साधु आठ कर्मों से संयुक्त होते हैं, उनको छः लेश्या भी होती हैं, भूख-प्यास शांत करने के लिये तथा सर्दी गर्मी को दूर करने के लिये अनेक वस्तुओं के अभिलाषी भी होते हैं।

सिद्ध परमात्मा तथा केवली भगवंतों की तुलना में छद्मस्थ साधु अल्प पूज्य हैं, फिर भी उनको दान देते हुए गृहस्थ पुण्य उपार्जन का महान लाभ प्राप्त करते हैं तथा धीरे-धीरे मोक्ष को भी प्राप्त कर सकते हैं तो फिर इच्छारहित, अकर्मी ऐसे श्री सिद्ध भगवान् के सामने भावयुक्त उत्तमोत्तम द्रव्य अर्पण करने से आठ सिद्धि, नवनिधि तथा मुक्तिपद की प्राप्ति हो जाती है, इसमें कोई शंका नहीं हो सकती। एक स्थान पर कहा है कि—

"देहीति वाक्यं वचनेषु नेष्टं,
नास्तीति वाक्यं ततः कनिष्टं।
गृहाण वाक्यं वचनेषु राजा,
नेच्छामि वाक्यं राजाधिराजः ॥१॥

भावार्थ—किसी वस्तु की याचना करना कि—"मुझे वह वस्तु दो" यह महा नीच वचन है। वस्तु माँगने पर भी नहीं देना और मना करना यह उससे भी नीच वचन है। वस्तु सामने लाकर कहना कि, 'यह वस्तु लो'—यह राजवचन अर्थात् उत्तम वचन है। और लेने वाला व्यक्ति कहे कि "मेरी इच्छा

नहीं है"—यह वाक्य तो राजाधिराज अर्थात् सर्वोत्तम है। अतः इच्छा तृष्णा रहित भगवान् सर्वपात्र शिरोमणि सुपात्र हैं। उनके सम्मुख द्रव्य चढ़ाकर पूजा करते समय प्रथम "दान धर्म" सरलता से सिद्ध होता है।

दूसरा शीलधर्म—पाँचों इन्द्रियों को वश में रखने को शीलधर्म कहते है। गृहस्थ जब भावयुक्त द्रव्य पूजा करता है तब पाँचों इन्द्रियाँ संवरभाव को प्राप्त करती हैं। इससे शील-धर्म सिद्ध होता है।

तीसरा तपोधर्म—यह छः बाह्य तथा छः आभ्यंतर, ऐसे बारह प्रकार का होता है। उसमें जिनप्रतिमा को पूजते समय पूजनकाल में चारों प्रकार के आहार का त्याग होने से बाह्य तप हुआ तथा भगवान् का विनय, वैयावच्च, ध्यान आदि करने से आंतरिक तप हुआ।

चौथा भावधर्म— शुभ भावना होने के कारण ही श्रावक पूजा करता है। हजारों, लाखों रुपये खर्च करके मन्दिर आदि बनवाना, बिना भाव के प्रायः अशक्य है। पूजन करते समय श्री तीर्थंकर देवों के पाँचों कल्याणकों की भावना करना, यह भी भावधर्म है।

इस प्रकार विवेक पूर्वक विचार करने से हम समझ सकते हैं कि श्री जिनेश्वर की मूर्ति पूजा में भी चारों प्रकार के धर्मों की एक साथ आराधना होती है।

प्रश्न ५१—"आरम्भे नत्थि दया।" यह सूत्र वचन है जिसके अनुसार दया में ही धर्म हैं पर आरम्भ में नहीं। श्री जिनपूजा में तो आरम्भ होता है तो फिर उससे धर्म कैसे हो सकता है?

उत्तर—मात्र एक पद बोलकर शेष गाथा छोड़ देने से अर्थ का अनर्थ होता है। पूरी गाथा का पूर्वापर सम्बन्ध मिलाकर अर्थ करने से ही सत्य पदार्थ का ज्ञान होता है। वह पूरी गाथा ऐसा अर्थ बताती है कि, 'आरम्भ में दया नहीं, सद्आरंभ बिना महापुण्य नहीं, पुण्य के बिना कर्म की निर्जरा नहीं तथा कर्म की निर्जरा बिना मोक्ष नहीं।'

ऐसा कौनसा कार्य है जिसमें आरम्भ अर्थात् द्रव्य हिंसा न होती हो ? परन्तु क्रिया की प्रशस्तता तथा इस समय आत्मा का भाव आदि खास विचारना चाहिए। शुभ भाव में रहने से पाप नहीं होता। इसके लिये श्री भगवती सूत्र में फरमाया है कि—

"शुभ जोगंपडुच्च अणारंभो।"

अर्थात् जहाँ मन, वचन, काया का शुभ योग होता है, ऐसे आरम्भ को श्री तीर्थंकर देव अनारम्भ कहते हैं। इससे कर्म बंधन नहीं होता।

साधु नदी उतरता है, विहार करता है, गोचरी करता है, पडिलेहण करता है, ये सभी कार्य वह जान-बूझकर करता है। अगर अनजान में करने का कहोगे, तो बड़ा दोष लगेगा क्योंकि साधु को यदि करने व न करने योग्य कार्य का ज्ञान ही नहीं, तो वह शंकारहित सम्यग्दृष्टि किस प्रकार कहलायेगा ? जैसे उन कामों में भगवान् की आज्ञा है और साधु शुभ भाव में होने से कर्म नहीं बंधते वैसे ही श्रावक को भी द्रव्य पूजा में तथा साधु को आहार देने में श्री जिनाज्ञा है। उसमें जो हिंसा दिखाई देती है वह, स्वरूप हिंसा होने से तथा उसका परिणाम हिंसा का न होकर देवगुरु की भक्ति का होने से, अनारंभी होती है।

यहाँ ऐसा कहोगे कि, 'द्रव्य पूजा में तो प्रत्यक्ष हिंसा दिखाई देती है तो उसमें धर्म कैसे हो सकता है ? तो ऐसा कहना भी उचित नहीं ।' 'प्रत्यक्ष जीव को नहीं मारना !' इसी को यदि अहिंसक भाव मानोगे तो सूक्ष्म एकेन्द्रिय (लोकव्यापी पाँच स्थावर) में शुद्ध अहिंसक भाव मानना चाहिए क्योंकि वे बिचारे तो हिंसा का नाम निशान भी नहीं समझते और किसी भी जीव की पीड़ा में निमित्त नहीं बनते । इसलिए वे ही शुद्ध अहिंसक सिद्ध होंगे और यदि वे अहिंसक सिद्ध होते हैं, तो सर्वप्रथम मुक्ति भी उन्हीं जीवों की होनी चाहिए ।

परन्तु ऐसी विपरीतता तीन काल में भी सम्भव नहीं । अतः सच्ची अहिंसा की व्याख्या "जीव को नहीं मारना" इतनी ही नहीं किन्तु 'विषय-कषाय रूप प्रमाद के योग से जीव को नहीं मारना' इसी का नाम सच्ची अहिंसा है । श्री जिनपूजा में प्रमाद का अध्यवसाय नहीं, पर भक्ति का शुभ अध्यवसाय है और इसलिये उसे जैन शास्त्रानुसार हिंसा कभी भी नहीं कही जा सकता ।

इस प्रकार जो व्यक्ति द्रव्य तथा भाव अहिंसा का स्वरूप जानकर अहिंसा का आदर करता है वही सच्चा अहिंसक गिना जाता है; शेष लोग तो 'दरवाजे चोड़े और मोरी बंद ? की कहावत का अनुसरण कर अहिंसा के सच्चे मार्ग से भटक जाते हैं ।

कितने ही कामों में प्रत्यक्ष हिंसा आदि होते हुए भी उन २ कार्यों को ऐसे २ प्रसंगों पर आदर देने की आज्ञा, शास्त्रकारों ने साधु मुनिराज को फरमाई है । जैसे कि—

(१) श्री भगवतीजी में कहा है कि श्री संघ का कारण आ-

पड़े तो लब्धिवंत साधु, तलवार हाथ में लेकर आकाश मार्ग पर जावे

(२) श्री ठाणांगसूत्र तथा श्री बृहत्कल्पसूत्र में कहा है कि कीचड़ में तथा जल में फँसी हुई साध्वी को बाहर निकालने पर भी साधु श्री जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता तथा साधु-साध्वी के पैर में काँटा अथवा कील चुभ जाय या आँख में धूल गिर जाय और कोई निकालने वाला नहीं हो तो वे आपस में भी निकालें ।

(३) श्री सूयगडांग सूत्र में कहा है कि कारणवश आधा-कर्मी आहार लेने में साधु को दोष नहीं लगता !

(४) श्री आचारांग सूत्र में साधु को नदी में उतरने की तथा खड्डे में गिर जाय तो पेड़ की डाल अथवा घास आदि को पकड़कर बाहर निकलने की आज्ञा है

(५) श्री उववाई सूत्र में कहा है कि शिष्य की परीक्षा लेने के लिये गुरु उस पर झूठे दोष लगाये ।

अब यदि प्रत्यक्ष जीवों को नहीं मारना, इसी को अहिंसा कहोगे तो पंचमहाव्रतधारी साधु को तो तीनों प्रकार की हिंसा का पच्चक्खाण है फिर भी उसे उपरोक्त कार्य करने को कहा गया है, तो इसका क्या ? इसमें तुम जैसी हिंसा कहते हो वैसी हिंसा तो स्पष्ट रूप से रही हुई ही है। अतः साधु जो उपरोक्त आज्ञा विहित कार्य करे तो क्या उससे, उसके व्रतों का खंडन होगा या नहीं ? फिर तुम कहते हो कि खाते, पीते, उठते, बैठते भी ऐसी हिंसा तो होती ही है, तो उसके अनुसार वे हिंसक हैं या अहिंसक ? भगवान् ने तो इस प्रकार जीवों की हिंसा होने पर भी यतनावान साधुओं को आराधक कहा है ।

धर्म के निमित्त शुभ भाव से कोई काम करते हुए हिंसा होती है, उसको भी शास्त्रकारों ने विराधक नहीं माना है। साधु को जब, इस प्रकार अधिक लाभ देखकर हिंसायुक्त लगने वाले, कार्यों को भी करने की अनुमति है, तो श्रावक को धर्म के निमित्त आरंभ करते पाप लगे, ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसे कार्यों को तो भगवान् शुभानुबंधी कहते हैं। जैसे कि—

(१) **सूर्याभदेव** के सामानिक देवताओं ने समवसरण आदि रचकर भक्ति करने की अपनी इच्छा, भगवान् को बताई थी तब भगवान् ने कहा कि, तुम्हारा यह धर्म है। मैंने तथा अन्य तीर्थंकरों ने इसके लिये अनुज्ञा दी है।" आदि। एक योजन प्रमाण जमीन साफ करने में असंख्य वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय तथा अन्य जीव जंतुओं का संहार होता है फिर भी उसमें देवताओं की भक्ति को प्रधान मानकर भगवान् ने उसके लिये आज्ञा दी है।

(२) **श्री रायपसेणी** सूत्र में चित्र प्रधक, कपट करके घोड़ा दौड़ा कर, प्रदेशी राजा को श्री केशी गणधर महाराज के पास उपदेश दिलाने ले गया। उसमें अनेक जीवों का संहार होने पर भी परिणाम शुद्ध होने से उसके इस कार्य को 'धर्म' की दलाली कहा गया है न कि पाप की दलाली।

(३) उसी प्रकार श्री कृष्ण महाराज ने दीक्षा की दलाली की और उसको भी 'पाप दलाली' न कहकर 'धर्म दलाली' ही कहा गया है।

(४) **श्री ज्ञाता** सूत्र में श्री सुबुद्धि प्रधान ने श्री जितशत्रु राजा को समझाने के लिये गंदा पानी साफ करने हेतु हिंसा की, उसे भी धर्म के लिये कहा गया है।

(५) किसी को दीक्षा लेने को इच्छा है। उसे ओघा, मुहपत्ति, वस्त्र, पात्र की जरूरत है। यदि ये वस्तुएँ कोई श्रावक देता है, तो उसमें धर्म है या अधर्म ?

(६) साधु का आगमन जानकर दूर तक सामनें जावे, विहार करते जानकर रोकने जावे, सैंकड़ों कोस दूर तक वंदन करनें जावे, कल्पनीय वस्तुओं की व्यवस्था कर दे, दीक्षामहोत्सव, मरणमहोत्सव आदि करे, इन सब कामों में पंचेन्द्रिय तक के जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा होती है। फिर भी ऐसा करने में धर्म होता है अथवा अधर्म ?

(७) श्री मल्लिनाथ स्वामी ने छः राजाओं को प्रतिबोध देने के उद्देश्य से मोहन घर बनाकर अपने ऊपर के मोह को दूर करने के लिये, अपने स्वरूप की एक प्रतिमा खड़ी की तथा उसमें नित्य आहार पानी डालते, उसमें लाखों जीवों की उत्पत्ति हुई और उनका नाश हुआ फिर भी भगवान् को उसका पाप नहीं लगा। वे तो उसी भव में मोक्ष सिधारे। उससे यदि पाप वृद्धि होती तो वे ऐसा क्यों करते तथा करने पर भी मोक्ष कैसे प्राप्त करते ?

इस तरह आज्ञा सहित के कार्यों में स्वरूप हिंसा होती है परन्तु परिणाम की विशुद्धता से अनुबंध रूप से 'दया है' ऐसा समझना चाहिये।

यहाँ पर कोई शंका करे कि—

"श्री तीर्थंकरदेव अपनी भक्ति के लिये छः काय जीवों के संहार की आज्ञा किस प्रकार दे सकते हैं ?"

उसके उत्तर में कहने का है कि, महान पुरुष कदापि ऐसा नहीं कहते कि 'मेरी भक्ति करो', 'मेरी वंदना करो' अथवा 'मेरी पूजा करो'। पर श्री गणधर महाराज की बताई हुई शास्त्रयुक्त विधि के अनुसार पूजन करने से सेवक वर्ग का अवश्य कल्याण होता है। जैसे साधु स्वयं को लक्ष्य कर नहीं कहता कि, 'मेरी भक्ति-सेवा करो' पर उपदेश द्वारा सामान्य रीति से गुरु भक्ति का स्वरूप बतावे, सुपात्रदान की महिमा समझावे तथा भक्त जन तदनुसार आचरण करें, तो इससे साधु को अपनी भक्ति का उपदेश देने वाला नहीं गिना जाता, क्योंकि समुदाय की भक्ति के उपदेश में व्यक्ति का प्रवर्तकपन नहीं गिना जाता।

प्रश्न ५२—किसी जीव को मारना, छः काय का संहार करना, यह हिंसा है तथा जीव पर दया लाकर उसे न मारना, छः काय की रक्षा करना, यह धर्म है तो फिर जानबूझकर जीवहिंसा से धर्म कैसे होता है ?

उत्तर—यह प्रश्न एकांतवादी का है। पहले साधु, साध्वी तथा श्रावकों के लिये जिस काम को करने की आज्ञा बतायी गयी है, उसमें क्या हिंसा नहीं ? अवश्य है; पर यह हिंसा केवल द्रव्य हिंसा है, मारने के द्वेष रूप परिणाम से की हुई हिंसा नहीं। इसलिये वह हिंसा पापकारी अथवा भाव हिंसा नहीं मानी जाती। बाकी हिंसा तो श्वास लेते, हाथ-पैर हिलाते और चलते बैठते हुआ ही करती है। प्रायः कोई भी कार्य ऐसा नहीं जिसमें द्रव्य हिंसा न होती हो।

अब ऊपर के कामों में होने वाली हिंसा अनजाने होती है, ऐसा कहना भी अनुचित है क्योंकि आहार, निहार, विहार

आदि तमाम आवश्यक क्रियाएँ जान बूझ कर की जाती हैं। उनको अनजान में करने का, कहने से तो उन क्रियाओं के करने वाले सभी साधु, श्रावक अज्ञानी ठहरेंगे जिनको कृत्या-कृत्य व गमनागमन की भी खबर नहीं। और यदि ऐसा होता है तो उन्हें सम्यग्दृष्टि कैसे कह सकते हैं? अतः भगवान् की आज्ञा में रह कर उनके आदेशानुसार काम करने वाला व्यक्ति हिंसक नहीं, पर अहिंसक एवं पापी नहीं, वरन् पुण्यवान् गिना जाता है। यदि ऐसा न मानें तो एकेन्द्रिय जीव तो जाने-अनजाने लेशमात्र भी हिंसा नहीं करते, इसलिये उनको तो सर्वोच्च गति प्राप्त होनी चाहिये और यदि ऐसा ही बन जाता है तो क्रिया, कष्ट, तप, जप आदि का क्या प्रयोजन?

केवल मुँह से 'दया, दया' की पुकार करने से दया उत्पन्न नहीं होती। इसके लिये 'दया तथा हिंसा का परमार्थ स्वरूप क्या है? उसे समझना चाहिये। शास्त्रों में हिंसा तथा अहिंसा तीन २ प्रकार की कही है।

हिंसा के तीन प्रकार हैं—

(१) हेतु हिंसा (२) स्वरूप हिंसा (३) अनुबंध हिंसा

वैसे ही अहिंसा के भी तीन प्रकार—

(१) हेतु अहिंसा (२) स्वरूप अहिंसा (३) अनुबंध अहिंसा

जिनमें जीव हिंसा हुई नहीं, पर जीव-रक्षा के प्रयत्न का अभाव है, उसे हेतु हिंसा कहा जाता है। जिसमें जीव-रक्षा का प्रयत्न होते हुए भी जीववध हुआ है उसे स्वरूप हिंसा कहा जाता है एवं जिसमें जीव का वध भी है

तथा जीव-रक्षा का प्रयत्न भी नहीं है, वह अनुबंध हिंसा कहलाती है।

इसी प्रकार अहिंसा के लिये भी समझ लेना।

श्री जिनपूजादि धर्म कार्य में स्वरूप से हिंसा है, पर हिंसा का भाव न होने के कारण अनुबंध अहिंसा का पड़ता है। जब तक मन, वचन और काया के योग से सम्पूर्ण स्थिरता नहीं हो जाती तब तक बोलते, उठते ऐसे प्रत्येक कार्य करते आरंभ तथा उससे अल्पाधिक कर्मबंधन होता ही रहता है। ऐसी दशा में सर्वथा अहिंसा किसी भी कार्य में किस प्रकार हो सकती है?

श्री ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में चतुर्भंगी कही है।

(१) सावद्य व्यापार और सावद्य परिणाम

(२) सावद्य व्यापार और निरवद्य परिणाम

(३) निरवद्य व्यापार और सावद्य परिणाम

(४) निरवद्य व्यापार और निरवद्य परिणाम

इसमें प्रथम विभाग मिथ्यात्व के आश्रय का है। दूसरा विभाग सम्यग्दृष्टि तथा देशविरति श्रावक का है क्योंकि श्रावक के योग्य देवपूजा, साधुवंदन आदि धार्मिक कार्यों में दिखने में तो वे सावद्य व्यापार मालूम होते हैं, पर उसमें श्रावक के परिणाम हिंसा के न होने के कारण वह केवल स्वरूप हिंसा है। जिसका पाप आकाश-कुसुम की तरह आत्मा

को लग ही नहीं पाता। तीसरा विभाग श्री प्रसन्नचंद्र राजर्षि जैसे का जानना और चौथा विभाग सर्वविरति साधु संबंधी है।

द्रव्य पूजा करने से हिंसा का पाप लगने का कोई कारण नहीं है।

श्री ठाणांगसूत्र के पाँचवें ठाणे के दूसरे उपदेश में कर्मबंधन के पाँच द्वार बताए हैं।

"पंच आसवदारा पन्नता, तंजहा—(१) मिच्छतं (२) अविरई (३) पमाओ (४) कषाय (५) जोगा"

अर्थ—पापबन्ध के पांच कारण बताये हैं (१) मिथ्यात्व (२) अविर्रति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग

जब कि प्रभु पूजा शांत चित्त से, सम्यक्त्वसहित, प्रमाद रहित एवं विधि पूर्वक होने से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय आदि चार प्रकार से कर्मबंध होना तनिक भी संभव नहीं है। पाँचवा "योग" निमित्त रहा। श्री भगवती सूत्र में (१) शुभ योग तथा (२) अशुभ योग—योग के ऐसे दो प्रकार बताये हैं। शुभ योग पुण्यबंध का तथा अशुभयोग पाप-बंध का कारण है।

श्री जिनपूजा में किसी प्रकार की निंदा अथवा अवर्णवाद आदि न होने से अशुभ योग तो कहा ही नहीं जा सकता। केवल श्री जिनेश्वरदेव की भक्ति, गुणगान, स्तुति आदि के कारण शुभ योग ही कहा जाता है और जितनी मात्रा में वह होगा, उतनी ही मात्रा में शुभ बंध पड़ेगा। क्योंकि कारण बिना कार्य पैदा नहीं होता। द्रव्य पूजा में अशुभबंध के कारण का अभाव होने से शुभ फल ही होता है।

तर्क—ऐसे तो धर्म के निमित्त मांसाहार करते हुए भी कोई शुभ भाव रक्खे, तो उसे भी पाप नहीं लगना चाहिये।

समाधान—यदि मांसाहार करने से बुद्धि तथा परिणाम शुद्ध रहते हों तो सर्वज्ञ परमात्मा को भक्ष्याभक्ष्य का भेद बताने की जरूरत ही नहीं होती। विद्वान् डॉक्टर भी मांसाहार को अच्छी बुद्धि प्रदायक नहीं मानते। इसके विपरीत वे इसका निषेध करते हैं।

अन्न, जल आदि भक्ष्य पदार्थ निर्विकारी, निरोगी, पौष्टिक तथा शारीरिक एवं मानसिक बल की वृद्धि करने वाले हैं, जबकि मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य वस्तुएँ विकार करने वाली, रोग बढ़ाने वाली, शरीर तथा मन को बिगाड़ने वाली तथा कुबुद्धि और निर्दयता का कारण होने के कारण अग्राह्य हैं। उनके खाने से शुभ भावना कैसे हो सकती है? "अन्न जैसी डकार" "और जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन" 'कहावतों को भूलना नहीं चाहिये।

एकेन्द्रिय तो केवल अव्यक्त चेतनावाले है। उसकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय का अनंतगुणा पुण्य है। इस प्रकार क्रमशः पंचेन्द्रिय जीवों की पुण्याई. उनसे अनंतगुणी है। तो उनको मारने से पाप भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा अनंतगुणा विशेष है।

और उनको मारने में तीक्ष्ण शस्त्र का उपयोग करते समय क्रोध तथा निर्दयता आदि धारण करनी पड़ती है, जिससे निष्ठुर परिणाम तो प्रारम्भ में ही हो चुके होते हैं तथा मांस में समय २ पर पंचेन्द्रिय (सम्मूर्च्छिम) जीवों की उत्पत्ति तथा विनाश हुआ करता है। इसी कारण अनंतज्ञानी सर्वज्ञ परमात्माओं ने ऐसी घोर हिंसा का सर्वथा निषेध किया है तथा अल्प पाप के

कारण अन्न, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय पदार्थों को ही भक्ष्य फरमाया है। इस पर भी श्री जिनपूजा के साथ मांस भोजन की तुलना करना, अत्यन्त अज्ञानता एवं धर्मद्वेष का सूचक है।

प्रश्न ५३—पुष्पपूजा से पुष्प के जीवों को कष्ट पहुँचता है, इसका क्या ?

उत्तर—जो फूल भगवान् को चढ़ते हैं, उन जीवों को कोई कष्ट नहीं होता बल्कि उनको सुरक्षित स्थान मिलता है। इससे पुष्पपूजा करने वाले तो, उन पर दया करने वाले हैं। उन फूलों को कोई शौकीन लोग लेजाकर हार, गजरा आदि बना कर सूँघते हैं, मसलते हैं, वेश्या अपने पलंग पर बिछाती है, अत्तर के व्यापारी उसे चूल्हे पर चढ़ाते हैं, तेल निकालने हेतु उन्हें पीसते हैं, इस तरह भाँति २ से कष्ट पहुँचाते हैं, जबकि जो फूल प्रभु के अंगों पर चढ़ते हें उनको तो जीवन भर कष्ट पहुँचाने या मारने की किसी की शक्ति नहीं। इसलिये वे तो सुख से अपनी आयु पूर्ण करते हैं। श्रद्धापूर्वक फूलों को लाकर, उसको हार में पिरोकर विधि पूर्वक भगवान् को चढ़ाने वाला पुष्प के जीवों को कष्ट न देकर सुरक्षा प्रदान करता है।

श्री आवश्यक सूत्र की बृहद्वृत्ति के द्वितीय खंड में कहा है कि—

"जहा णवणयराइसन्निवेसे केइ पभूय जलाभावओ तण्हाइ-परिगया तदपनोदार्थं कूपं खणंति तेंसि च जइवि तण्हादिया वड्ढंति मट्टिकाकद्दमाईहिं य मलिणिज्जन्ति तहावि तदुब्भवेण चेव पाणिएणं तेसि ते तण्हाइया सो य मलो पुव्वओ य फिट्टइ

सेसकालं च ते तदण्णे य लोगा सुहभागिणो हवंति एवं दव्वत्थए जइवि असंजमो तहावि तम्रो चेव सा परिणामसुद्धी हवइ जाए असंजमो वज्जियं अण्णं च निवनसेसं खवेइत्ति तम्हा विरिया-विरएहिं एए दव्वत्थम्रो कायव्वो सुभाणुवंधी पभूयतरणि-ज्जराफलो यत्ति काऊणमिति"

"जिस प्रकार किसी नये नगर में पर्याप्त जल के अभाव में बहुत से लोग प्यास से मरते हों तो, प्यास दूर करने के लिये वे कुम्रा खोदते हैं। उस समय उन्हें अधिक प्यास लगती है तथा कीचड़ और मिट्टी से शरीर मलिन बन जाता है, तो भी कुम्रा खोदने के वाद उसमें निकले हुए पानी से उनकी प्यास बुझ जाती है, तथा पहले का लगा हुम्रा कीचड़ भी दूर हो जाता है। उसके पश्चात् वे खोदने वाले तथा अन्य लोग उस पानी से सुख भोगते हैं।

उसी प्रकार द्रव्यपूजा में जो, स्वरूप जीव हिंसा दिखाई देती है पर उस पूजा से परिणाम की ऐसी शुद्धि होती है कि, जिससे असंयम से उत्पन्न हुए अन्य संताप भी नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् संसार को क्षीण करने का वह पूजा सबल कारण बनती है। इस कारण देशविरति श्रावक के लिये जिनपूजा शुभानुबंधी और अत्यंत निर्जरा के फल को देने वाली है।

जैसे दयालु, डॉक्टर, रोगी व्यक्ति पर दया लाकर, उसका रोग दूर करने के लिये नाना प्रकार की कड़वी औषधियां देता है अथवा उस रोगी के शरीर की शल्य क्रिया करता है, जिससे उसे अत्यंत पीड़ा होती है। उससे हैरान होकर भी वह अपने परोपकारी डाक्टर की निन्दा नहीं करता और इसी तरह अन्य

लोग भी उस डाक्टर को निर्दयी अथवा पापी नहीं कहते, क्योंकि डाक्टर का परिणाम तो रोग दूर करना होता है, उसे किसी प्रकार हिंसक अथवा अधर्मी नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक एकेन्द्रिय जीवों पर अनुकंपा लाकर, उनके मिथ्यात्व रूपी रोग को दूर करने के लिये उनको भगवान् के चरण कमलों में पहुँचाता है। अतः वे पुष्पादि वस्तुएँ को धन्य हैं कि उनका ऐसे उत्तम कार्य में उपयोग किया जाता है। उन वस्तुओं का ऐसा अहोभाग्य कहाँ कि जिससे उनको परमेश्वर के चरण कमलों का स्पर्श हो अथवा वहाँ आश्रय मिले। धर्मदाता गुरु महाराज भी शिष्य के अज्ञान रूपी अंधकार को हटाने के लिये उसकी नाना प्रकार से ताड़ना करते हैं, उस पर क्रोध करते हैं, शिष्य को प्रत्यक्ष कष्ट देते हैं फिर भी उनको कोई बुरा या निर्दयी नहीं कहता पर उलटी उनकी प्रशंसा ही करते हैं। ऐसा ही श्री जिनपूजा के लिये उपयोग में आने वाले एकेन्द्रिय जीवों के विषय में भी समझना लेने चाहिए।

प्रश्न ५४—तीर्थंकर देव के समवसरण में देवतागण फूल की वृष्टि करते हैं। वे सचित्त हों तो साधु से उनका संघट्टा कैसे हो सकता है?

उत्तर—श्री समवायांग तथा श्री रायपसेणी सूत्र में स्पष्ट कहा है कि, 'जलज थलज' इत्यादि शब्दों से जल में उत्पन्न कमलादि तथा स्थल अर्थात् जमीन पर उत्पन्न जाई जुई, केवड़ा, चंपा, गुलाब आदि पाँच रंगों के फूलों की, कंद नीचे तथा मुख ऊपर ऐसे जानु-प्रमाण फूलों की वृष्टि होने का उल्लेख है। इससे वे फूल अचित्त नहीं पर सचित्त ही साबित होते हैं।

ऊपर के सूत्रों में लिखा है कि, 'पुष्फवद्दलए विउव्वंति' अर्थात् फूलों के बादल बनाए हैं, परन्तु फूल नहीं बनाए। इससे भी वैक्रिय फूल सिद्ध नहीं होते।

अब सचित्त फूल का स्पर्श साधु कैसे करे? इसके उत्तर में कहना है कि घुटनों तक फैले हुए फूलों को साधु अथवा अन्य किसी व्यक्ति से जरा भी बाधा नहीं पहुँचती, ऐसा भगवान् का अतिशय है। जिनके प्रभाव से शेर तथा हिरन, बिल्ली तथा चूहा, चीता तथा बकरी इत्यादि जानवर अपने जाति स्वभाव के पारस्परिक वैर को भी भूल कर धर्म का उपदेश सुनते हैं। उसके प्रभाव से पुष्प के जीवों को कष्ट न हो तो, इसमें आश्चर्य किस बात का?

श्री स्थूलभद्रजी के चरित्र में कहा है कि, 'कोश्या गणिका ने सरसों के ढेर पर सुई को खड़ा कर उस पर गुलाब का फूल रखकर उस पर नाच किया, फिर भी स्त्री को अथवा फूल को कोई भी हानि नहीं पहुँची'। सोचो कि सरसों पर सूई, उस पर फूल और फूल पर स्त्री का बोझ होते हुए भी किसी को बाधा नहीं पहुँची तो फिर अत्यन्त अचिंतनीय तथा निरुपम प्रभावशाली श्री तीर्थंकरदेव के अतिशय से फूलों को बाधा न हो बल्कि वे प्रफुल्लित हों, इसमें अशक्य क्या है?

जिनके संपर्क से करोड़ों जीव समवसरण भूमि में एकत्रित होते हुए भी भीड़ होने का काम नहीं, उनका प्रभाव सामान्य-जन की कल्पना से बाहर होता है, इसमें कौनसी बड़ी बात है?

अकथनीय शक्ति के स्वामी देवता जल-थल में उत्पन्न फूलों को लाकर, उनके बादल बनाकर ऐसी खूबी के साथ बरसाते कि

जिससे मनुष्य के पैरों से उनको हानि अथवा कष्ट न हो। तथा समवसरण के बीच गढ़ की दीवार के पास चारों ओर फूलों की पंक्ति ऐसी बनाते हैं कि जिससे आने जाने वाले साधुओं के पैरों के नीचे भी पुष्प नहीं आवें। जिस प्रकार बाग में चारों ओर हरी दूब होती है पर बीच में आने जाने की सड़कें तथा खुली जमीन रहती है और लोग वहाँ बैठते हैं वैसे ही फूलों की वर्षा होनें में आश्चर्य नहीं है।

प्रश्न ५५—समवसरण में सचित्त वस्तु को बाहर रखना और अचित्त को अन्दर ले जाना, ऐसी आज्ञा है, इसका मेल कैसे बिठाना ?

उत्तर—सचित्त वस्तु को बाहर छोड़ने की जो बात कहीं गई है वह अपने उपयोग की वस्तु के लिये है किन्तु पूजा की सामग्री के लिये नहीं। यदि सचित्त वस्तु मात्र का निषेध करोगे तो मनुष्य आदि का शरीर भी सचित्त है अतः उसको भी नहीं ले जाना चाहिये। पर ऐसा होने से तो समवसरण में कोई जा ही नहीं सकता।

जीवयुक्त पदार्थ की अन्दर प्रवेश करने की शक्ति है, अचित्त की नहीं तथा सचित्त को छोड़कर अचित्त को अंदर ले जाने की ही बात मानोगे तो राजा के छत्र, चँवर, छड़ी, तलवार, मुकुट तथा सभी लोगों के जूते भी अचित्त होने से अंदर ले जाये जा सकते हैं, पर उसके लिये तो मना है। उसी प्रकार खाने की अचित्त वस्तु भी बाहर छोड़नी पड़ती है। इससे सिद्ध होता है कि पूजा की सामग्री सचित्त हो या अचित्त उसे समवसरण में ले जाने में कोई आपत्ति नहीं। इसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि अपने खान पान की कोई भी वस्तु चाहे वह अचित्त हो, फिर भी भीतर नहीं ले जाई सकती।

प्रश्न ५६—जिस द्रव्यपूजा को साधु नहीं करता उसका उपदेश देकर दूसरों से करवाने से क्या लाभ ?

उत्तर—पंचमहाव्रतधारिणी साध्वी को साधु नमस्कार न करे, वैयावच्च न करे परन्तु श्रावकों को उपदेश देकर आहार दिलावे, वंदना करावे, दूसरी साध्वी को कहकर वैयावच्च करावे तथा करने वाले को अच्छा समझे। साथ ही साधु अपने दीक्षित शिष्य को वंदन न करे पर दूसरे से वंदन करावे।

दूसरी दृष्टि से देखें तो गरीबों को दान देना, साधर्मिक वात्सल्य करना, तपस्वियों को पारणा कराना, मुनिराज को खपती योग्य वस्तुओं की पूर्ति करना आदि धर्म के अनेक कार्य हैं। फिर भी साधु का आचार न होने से वह यह सब न करे, पर श्रावकों को ऐसा करने का उपदेश दे तथा उसकी अनुमोदना करे। इस न्याय से साधु सर्वथा द्रव्य के त्यागी और निरारंभी होने से द्रव्यपूजा न करे, पर उपदेश द्वारा करावे तथा उसकी अनुमोदना करे।

प्रश्न ५७—श्रावक के बारह व्रतों में श्री जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा कौनसे व्रत में आती है ?

उत्तर—जिसके बिना सभी व्रत निष्फल हैं, ऐसी समस्त शुभ क्रियाओं का मूल सम्यक्त्व है उसके करने में श्रावक को गृहस्थावास में रहते हुए भी श्री जिनमूर्ति की द्रव्य-भाव पूजा करना उचित है। देव तो श्री अरिहंतदेव, गुरु तो श्री जैन धर्म के शुद्ध गुरु और धर्म तो केवली प्रणित सत्य धर्म। ये तीनों वस्तुएँ चारों निक्षेपों से सभी को वंदनीय एवं पूजनीय हैं। इनको मानने वाला सम्यग्दृष्टि और नहीं मानने वाला मिथ्या-

दृष्टि है। इस प्रकार श्री जिनपूजा सम्यक्त्व का मूल है और सम्यक्त्व, यह सभी व्रतों का मूल है। सम्यक्त्व के बिना सारी क्रियाएँ निष्फल हैं।

प्रश्न ५८—तपस्या करने से अनेक लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं परन्तु क्या श्री जिनप्रतिमा की पूजा करने से किसी को लब्धि या ज्ञान की उत्पत्ति होना सुनी है ?

उत्तर—श्री रायपसेणी, श्री भगवती सूत्र, श्री जीवाभिगम, श्री ज्ञातासूत्र, श्री उववाई सूत्र, श्री आवश्यक सूत्रादि बहुत से सूत्रों में मूर्तिपूजा को कल्याणकारी, मंगलकारी और अंत में मोक्ष देने वाली कहा है। उत्कृष्ट पुण्य जो तीर्थंकर गोत्र है, वह भी जिनपूजा से बँधता है। अन्य देव की मूर्ति की आराधना से भी लोगों के धन, धान्य, पुत्र आदि की प्राप्ति दृष्टांत विद्यमान हैं तो श्री वीतराग की मूर्ति की आराधना से प्रत्येक मनवांछित लब्धि प्राप्त हो,—इसमें क्या आश्चर्य है ? इसके संबंध में दृष्टांत निम्नानुसार हैं—

(१) अनार्य देश का निवासी श्री आर्द्रकुमार श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा के दर्शन से जातिस्मरणज्ञान प्राप्त कर, वैराग्य दशा में लीन हुआ। जिसका वर्णन बारह सौ वर्ष पूर्व लिखित श्री सुयगडाँग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के छट्ठे अध्ययन की टीका में है।

(२) श्री महावीरस्वामी के चौथे पट्टधर तथा श्री दशवैकालिक सूत्र के कर्ता श्री शय्यंभवसूरि को, श्री शांतिनाथजी की प्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोध प्राप्त हुआ, ऐसा श्री कल्पसूत्र की स्थिरावली की टीका में कहा है।

(३) श्री द्वीपसागरपन्नति तथा श्री हरिभद्रसूरिकृत आवश्यक की बड़ी टीका के अनुसार है श्री जिनप्रतिमा के आकार की मछलियाँ समुद्र में होती हैं। जिनको देखकर अनेक भव्य मछलियों को जातिस्मरणज्ञान प्राप्त होता है और बारह व्रत धारण कर सम्यक्त्व सहित आठवें देवलोक में जाती हैं। इस प्रकार तिर्यंच जाति को भी जिनप्रतिमा के आकार मात्र के दर्शन से, अलभ्य लाभ प्राप्त होता है, तो मनुष्य को अलभ्य-लाभ प्राप्त हो, इसमें क्या शंका हो सकती है ?

(४) श्री ज्ञाता सूत्र में श्री तीर्थंकर गोत्र बँध के बीस स्थानक कहे हैं। उसके अनुसार राजा रावण ने प्रथम अरिहंत-पद की आराधना, श्री अष्टापद पर रहने वाले तीर्थंकर देव की मूर्ति की भक्ति कर, तीर्थंकर गोत्र बाँधा, ऐसा रामायण में कहा है। यह रामायण श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने सत्रहसौ वर्ष पूर्व हुए, श्री जिनसेनाचार्य कृत पद्मचरित्र के आधार से बनाई है और जिसे प्राय: तमाम जैन मानते हैं।

(५) उसी ग्रंथ में लिखा है कि रावण ने श्री शांतिनाथ प्रभु की मूर्ति के सामने बहुरुपिणी विद्या की साधना की, और प्रभु भक्ति से वह विद्या सिद्ध हो गई।

(६) श्री पद्मचरित्र में कहा है कि लंका जाते समय श्री रामचन्द्रजी ने समुद्र पार उतरने के लिये श्री जिनमूर्ति के सामने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति दी, जिसके प्रभाव से उन्होंने आसानी से समुद्र पार कर लिया।

(७) जरासंध राजा ने कृष्ण महाराज की सेना पर 'जरा' डाली, सभी सैनिकों को बेहोश कर दिया, तब श्री नेमनाथ-

स्वामी की आज्ञा से कृष्ण राजा ने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु की मूर्ति दी, जिसके स्नान जल से 'जरा' टूट गई और सारे सैनिक होश में आ गये। यह मूर्ति श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ के नाम से अब भी गुजरात में विद्यमान है (यह कथन श्री हरिवंश चरित्र में है)।

(८) नागार्जुन जोगी को कहीं भी स्वर्ण सिद्धि नहीं हुई। अन्त में श्री पादलिप्ताचार्य के वचन से श्री पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा के सामने श्रद्धापूर्वक एकाग्रता करने से वह सिद्धि प्राप्त हुई। इस से वह योगी परम सम्यक्त्वधारी श्रावक बना और गुरु पादलिप्ताचार्य की कीर्ति के लिये श्री शत्रुञ्जय की तलेटी में पालीताणा नगर बसाया, ऐसा श्री पादलिप्त चरित्र में वर्णन है।

(९) श्री श्रीपाल राजा तथा सात सौ कोढ़ियों का अठारह प्रकार का कोढ उज्जैन नगर में श्री केसरीयानाथजी की मूर्ति के सामने, श्री सिद्ध चक्र यंत्र के स्नान जल से दूर हो गया तथा उनकी काया कंचन के समान बन गई। वह मूर्ति हाल में मेवाड़ में धुलेवा नगर में बिराजमान है (देखो श्री श्रीपाल चरित्र)।

(१०) श्री अभयदेवसूरिजी का गलत कोढ़ श्री स्तंभन पार्श्वनाथजी की मूर्ति के स्नानजल से गया। उसके पश्चात् उन्होंने नव अंग सूत्रों की टीका रची।

(११) श्री गौतम स्वामी की शंका निवारण करने के लिये भगवान् ने श्रीमुख से फरमाया है कि—जो व्यक्ति आत्म-लब्धि से श्री अष्टापद तीर्थ पर चढ़, कर भरत राजा द्वारा

बनवाई हुई जिन प्रतिमाओं का भावपूर्वक दर्शन करेगा तो वह इसी भव में मोक्ष में जायेगा। इस बात का निश्चय करने के लिये, श्री गौतम स्वामी अष्टापद पर चढ़े तथा यात्रा करके उसी भव में मोक्ष गये, ऐसा श्री आवश्यक निर्युक्ति में है।

(१२) श्री भगवती सूत्र के मूल पाठ में कहा है कि—भाव पूर्वक श्रीजिनमूर्ति का शरण लेने पर कभी नुकसान नहीं होता।

(१३) चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहुस्वामी श्री आवश्यक निर्युक्ति में फरमाते हैं कि—

'अकसिणपवत्तमाणं, विरयाविरयाणं एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ १ ॥

भावार्थ—देश विरति श्रावक को पुष्पादि के द्वारा द्रव्य-पूजा अवश्य करनी चाहिये। यह द्रव्यपूजा कूए के दृष्टांत से संसार को पतला करने वाली है।

(१४) टीकाकार भगवान् श्री हरिभद्रसूरिजी ने श्री आवश्यक वृत्ति में ऐसा बताया है कि प्रभु पूजा पुण्य का अनुबंध करने वाली तथा बहु निर्जरा के फल को देने वाली है।

(६५) श्री अभयदेवसूरिजी ने पूजा के फल को बताते हुए कहा है कि यद्यपि श्री जिनपूजा में स्वरूप हिंसा दिखाई देती है, फिर भी वह पूजा करने से गृहस्थ (कुए के दृष्टांत से) शुद्ध होता है तथा परिणाम की निर्मलता के अनुक्रम से मुक्तिफल को प्राप्त करता है।

(१६) गुणवर्मा राजा के सत्रह पुत्रों में से प्रत्येक ने भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजा की तथा वे उसी भव में मोक्ष गये, ऐसा

सत्रह प्रकार की पूजा के चरित्र में कहा है। सत्रह प्रकार की पूजा का सविस्तार वर्णन श्री रायपसेणी सूत्र में है।

(१७) श्री जिन प्रतिमा को पूजा भक्ति करने से श्री शांतिनाथ स्वामी के जीव ने श्री तीर्थंकर गोत्र का बंध किया था, ऐसा प्रथमानुयोग सूत्र में कहा है।

(१८) श्री भगवती सूत्र में, ऐसा कहा है कि तीर्थंकर का नाम तथा गोत्र सुनने से भी महा पुण्य होता है, तो प्रतिमा में तो उनके नाम तथा स्थापना दोनों हैं अतः उन दोनों की पूजा होने से विशेष पुण्य हो, इसमें क्या आश्चर्य ?

(१९) श्री श्रेणिक राजा ने श्री जिनेश्वरदेव की प्रतिमा की आराधना से तीर्थंकर गोत्र बाँधा, ऐसा अधिकार योग-शास्त्र में है।

(२०) श्री महानिशीथ सूत्र में श्री जिन मंदिर बनवाने वाला बारहवें देवलोक में जाता है ऐसा कहा है।

ऐसे सैकड़ों मूल सूत्र तथा निर्युक्ति आदि के प्रमाणों से मूर्ति पूजा उत्तम फल देनेवाली सिद्ध होती है।

वर्तमान में कई लोग अपने आत्मिक धन का अभिमान करके, निश्चय को आगे कर द्रव्यरहित, केवल भाव को ही पुकारते हैं और इसके द्वारा अपनी स्वार्थ सिद्धि का आडम्बर करते हैं; परन्तु ऐसा करने से थोड़ा बहुत भी जो आत्मिक धन होता है उसे भी अपने अहम् अथवा अहंकार से खोकर वे निर्धन बन जाते हैं। इस विषय में उत्तराध्ययन सूत्र में एक दृष्टांत है।

किसी साहूकार ने अपने तीन पुत्रों की परीक्षा लेने के लिए

प्रत्येक को हजार हजार स्वर्ण मुद्रायें देकर परदेश भेजा और कहा कि, इस धन से व्यापार कर, लाभ प्राप्त कर, शीघ्र लौट आओ। बड़े पुत्र ने तो कर्मचारी नियुक्त कर, आने जाने वालों का अच्छा आतिथ्य सत्कार कर, सभी को प्रसन्न कर, अपने व्यवसाय में खूब धन कमाया।

दूसरे पुत्र ने विचार किया कि—अपने पास तो धन बहुत है, उसे बढ़ाकर क्या करना है ? मूलधन बना रहे, इतना काफी है। ऐसा सोचकर मूलधन को कायम रखकर ऊपर का नफा खाने-पीने व मौज-शौक में उड़ा दिया। तीसरे पुत्र ने मन में सोचा कि पिता की मृत्यु के पश्चात् उनकी विपुल धनराशि के मालिक हम ही तो हैं, फिर कमाने की चिंता क्यों करना ? ऐसे अभिमानी विचार से उसने मूल रकम को भी मौज-शौक में उड़ा दी।

अब कुछ समय पश्चात् तीनों पुत्र, अपने पिता के पास घर पहुँचे। सारी हकीकत पूछने के बाद उस पुत्र को, जिसने मूलधन भी उड़ा दिया था, घर के काम-काज में नौकर की तरह रखकर, अपना गुजारा करने को कहा, अर्थात् श्रेष्ठि पुत्र के पद से हटाकर नौकर बनाया। दूसरे पुत्र को जिसने मूलधन को रखकर उसमें कोई वृद्धि नहीं की, कुछ द्रव्य से व्यापार करने की आज्ञा दी। परन्तु सबसे बुद्धिमान बड़े पुत्र को, जिसने असली रकम के अलावा बड़ा नफा कमाया था, घर का सारा भार सौंपकर घर का मालिक बनाया।

ऊपर बताये हुए दृष्टांत का उपनय यह है कि असली धन तो मनुष्य जन्म है। इसमें जिसने अधिक कमाई की, वह धर्ममार्ग

में बढ़कर महान् समृद्धिशाली व देवगति अथवा सर्वोत्कृष्ट अक्षय स्थिति को क्रमशः प्राप्त करने वाला समझना; जिसनें मूलधन (मनुष्य भव) को यथावत् कायम रक्खा वह मरकर पुनः मनुष्य योनि में ही आया, कुछ घटा बढ़ा नहीं, ऐसा समझना; किन्तु तीसरा तो असली रकम भी गुमा बैठा, दिवालिया बन गया, इससे वह मनुष्यगति रूपी उत्तम रत्न को हारकर कर्मवश नरक तिर्यंच रूपी नीच गत्ति में जा पड़ा, ऐसा समझना।

संक्षेप में कहा जाय तो आत्मिक शक्ति का अभाव अथवा उसकी वृद्धि के प्रति उदासीनता यह मूलधन खोकर दरिद्र बनने के समान है। जिस सत्कृत्य से तीर्थंकर गोत्र भी बँधता है ऐसे प्रभावशाली सत्कृत्य का अनादर करने वाले लोग अपने बैठने की डाली को ही तोड़ते हैं। इतना ही नहीं पर जिस महान् पुण्य के फल से यह श्रेष्ठ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, उसकी जड़ को दुराग्रह रूपी कुल्हाड़ी से काटने की प्रवृत्ति करते हैं।

प्रश्न ५६—श्री जिनपूजादि कार्य करना, यह तो व्यवहार धर्म है। जो निश्चय को प्राप्त हो चुके हैं, उनके लिए ऐसे अधर्म-कार्य की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—जो व्यवहार धर्म को छोड़कर, केवल निश्चय धर्म की साधना करने जाते हैं, वे दोनों से चूकते हैं, क्योंकि श्री जिनमार्ग में शुद्ध व्यवहार को प्रधान पद दिया गया है, केवल निश्चय को नहीं। यह साबित करने के लिए अनेक दृष्टांत हैं। जैसे—

(१) श्री भरतराजा को केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद भी वेश बदलना पड़ा, तो क्या ऐसा किये बिना केवलज्ञान वापिस चला

जाने वाला था ? नहीं, पर व्यवहार बनाए रखने के लिए गृहस्थ का वेश उतारना पड़ा और मुनिवेश धारण करना पड़ा ।

(२) साधु बरसते मेह में अपने स्थान पर आवे, परंतु अकेली स्त्री वाले स्थान पर न रुके । मार्ग चलते समय दूसरा रास्ता न मिले तो साधु हरी दूब पर पैर रख कर चले, परन्तु स्त्री के स्पर्श से बचे क्योंकि यह लोक व्यवहार से विरुद्ध है ।

(३) केवली महाराज दिन और रात में समान रूप से देखते हैं, फिर भी व्यवहार बनाये रखने के लिये रात में विहार नहीं करते हैं ।

(४) युगलिक भाई-बहन, पति-पत्नी बनने के बाद भोग कर के मरकर देवलोक में जाते हैं, परन्तु ऐसा काम यदि आज कोई करे तो उसे व्यवहार मार्ग का उल्लंघन कहा जाता है तथा महा अनर्थकारी गिना जाता है । निश्चित रूप से जीव हिंसा तो समान ही है ।

(५) श्री महावीर परमात्मा निश्चित रूप से जानते थे कि, दो साधु मरेंगे पर व्यवहार पालन के लिये उन्होंने बोलने से इन्कार किया ।

(६) श्रावक निरंतर आरंभ-परिग्रह में बैठा हुआ है और अनेक जीवों को कष्ट पहुँचाता है । फिर भी चोरी की वस्तु लेना, उसके लिए योग्य नहीं । इसका कारण यही तो है कि इससे कहीं लोक व्यवहार का लोप न हो जाय ।

(७) श्री वीरपरमात्मा जानते थे कि—'मेरे रोग की स्थिति पक गई है, अतः अब वह मिट जायेगा' परन्तु व्यवहार के लिये तथा अन्य साधुओं को यह बतलाने के लिये कि औषधि-सेवन से लाभ होता है, प्रभु ने भी औषधि ग्रहण की ।

(८) श्री मल्लिनाथस्वामी अवेदी थे पर लोक व्यवहार को मान्य रखने के लिये वे स्त्रियों की परिषद में ही बैठते ।

(९) राग से बचने के लिये साधु को चातुर्मास के सिवाय अकारण एक स्थान पर एक महीने से अधिक नहीं रहना चाहिये पर जो मोहराग बंधने का होता है तो, रहनेमि की तरह एक घड़ी में भी बंध सकता है । फिर भी एक महीने से अधिक रहने पर ही व्यवहार का भंग गिना जाता है अन्यथा नहीं ।

इस प्रकार व्यवहार मार्ग प्रधानता के अन्य भी सैंकड़ों उदाहरण हैं ।

श्रावक का शुद्ध व्यवहार, रात्रि भोजन आदि का त्याग है । जो इस व्यवहार को तोड़ते हैं वे स्वयं भी अवश्य तत्काल ही नष्ट हो जाते हैं, और जो शुद्ध व्यवहार को अंगीकार करते हैं, वे मोक्ष तक का फल प्राप्त करते हैं ।

प्रश्न ६०—बारह वर्षीय दुष्काल पड़ने के समय सावद्याचार्यों ने उपदेश देकर मूर्ति पूजा करवाना प्रारंभ किया है, उसके पहले तो कुछ था ही नहीं, ऐसा कई कहते हैं । क्या यह ठीक है ?

उत्तर—श्री महावीर स्वामी की बीसवीं पट्ट-परम्परा में श्री स्कंदिलाचार्य हुए और उनके समय में बारह वर्षीय दुष्काल पड़ा था । अब जो उनके बाद हुए आचार्यों ने मूर्तिपूजा चलाई हो तो श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तो भगवान् महावीर की सत्ताईसवीं पट्ट-परम्परा में हुए हैं; अतः उनको भी सावद्याचार्यों में शामिल करना पड़ेगा और उस समय अन्य सैकड़ों आचार्यों

ने एकत्रित होकर करोड़ों ग्रन्थों की रचना की अतः उन तमाम ग्रन्थों को भी निरर्थक मानना पड़ेगा। और यदि ऐसा हो तो जैनधर्म रहेगा ही कहाँ।

एक मूर्ख व्यक्ति भी समझ सकता है कि दुष्काल वर्ष में नैवेद्यादि पूजा का खर्च बढ़ाने के उपदेश का प्रचार कैसे बढ़ सकता है? उस समय लोग खर्च घटाने के उपदेश को ही ग्रहण करते हैं। और मूर्ति के सामने रक्खा हुआ अन्न आदि साधु के काम नहीं आता, यह बात क्या उस समय लोग नहीं जानते थे? साधु अपने स्वार्थवश ऐसा उपदेश करे तो भी उस समय का समाज उसे कैसे चलने देगा। नैवेद्य पूजा आदि उस समय शुरू हुई तो मूर्ति तो पहले थी ही, यह तो सिद्ध हो गया।

साक्षात् 'सरस्वती' आदि तथा अन्य देवी देवता जो हर समय जिन महात्माओं की सेवा में उपस्थित रहते थे, ऐसे शासन प्रेमी धुरंधर आचार्यों को स्वार्थी मानना तथा आज-कल के निर्बुद्धि पुरुषों को निस्वार्थी कहना-कितना असंगत है? लाखों वर्षों से विद्यमान् मूर्तियाँ तथा हजारों वर्ष पूर्व लिखित पुस्तकें अप्रामाणिक, एवं आधुनिक मन घड़न्त कल्पनाएँ प्रामाणिक ऐसा तो कैसे मान सकते हैं?

श्री जिनप्रतिमा की पूजा-भक्ति, हाल में श्रद्धालु श्रावकवर्ग के द्वारा करने में आती है। उसके लिए तथा पूजा के समय श्री जिनेश्वरदेव की पिण्डस्थादि तीनों अवस्थाओं का आरोपण करने में आता है उसके लिये सैंकड़ों सूत्रों के आधार हैं जिनमें से कितने ही सूत्रों के नाम मात्र नीचे दिये जाते हैं। इन सूत्रों तथा इनके रचनाकारों की प्रामाणिकता में किसी के दो मत नहीं हैं।

(१) श्री तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य पाँच सौ प्रकरण के रचयिता दस पूर्वधर वाचकशेखर श्री उमास्वातिजी महाराज द्वारा रचित पूजाप्रकरण।

(२) चौदह पूर्वधर तथा श्री वीरभगवान् के छठे पट्टधर श्री भद्रबाहुस्वामी कृत आवश्यक निर्युक्ति।

(३) दस पूर्वधर श्री वज्रस्वामीकृत प्रतिष्ठाकल्प।

(४) श्री पादलिप्ताचार्य कृत प्रतिष्ठाकल्प।

(५) श्री बप्पभट्टसूरि कृत प्रतिष्ठाकल्प।

(६) चौदह सौ चवांलीस ग्रंथों के कर्ता श्री हरिभद्रसूरि-कृत पूजा पंचाशक।

(७) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित श्री षोडशक।

(८) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित श्री ललितविस्तरा।

(९) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित श्री श्रावकप्रज्ञप्ति।

(१०) श्री शालिभद्रसूरि कृत चैत्यवंदन भाष्य।

(११) श्री शांतिसूरि कृत चैत्यवन्दन बृहद् भाष्य।

(१२) श्री देवेन्द्रसूरि कृत लघु चैत्यवन्दन भाष्य।

(१३) श्री धर्मघोषसूरि श्री कृत संघाचारवृत्ति।

(१४) श्री संघदासगणि कृत व्यवहार भाष्य।

(१५) श्री बृहत्कल्प भाष्य और उसकी श्री मलयगिरि-सूरि कृत वृत्ति।

(१६) श्री महावीरप्रभु के हस्तदीक्षित शिष्य अवधिज्ञानी श्री धर्मदासगणि क्षमाश्रमण कृत उपदेशमाला।

(१७) जिनके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों से वर्तमान विश्व भी चकित हो गया है, उन 'कलिकाल सर्वज्ञ' विरुद धारण करने वाले श्री हेमचन्द्राचार्य कृत श्री योगशास्त्र ।

(१८) उन्हीं द्वारा रचित श्री त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ।

(१९) पूर्वधरविरचित श्री प्रथमानुयोग ।

(२०) पूर्व चिरंतनसूरि कृत श्री श्राद्धदिनकृत्य सूत्र ।

(२१) श्री वर्द्धमानसूरि कृत श्री आचार दिनकर ।

(२२) श्री रत्नशेखर सूरिकृत श्री श्राद्धविधि ।

(२३) ,, श्री आचार प्रदीप ।

(२४) कक्कसूरिकृत श्री नवपद प्रकरण ।

(२५) श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत श्री विशेषाश्यक महाभाष्य ।

(२६) मल्लधारी श्री हेमचंद्राचार्य विरचित महाभाष्य वृत्ति

(२७) मल्लधारी श्री हेमचंद्राचार्य कृत पुष्पमाला ।

(२८) श्री अभयदेवसूरिकृत पंचाशकवृत्ति ।

(२९) श्री ज्ञातासूत्र ।

(३०) श्री ठाणांगसूत्र ।

(३१) श्री रायपसेणी सूत्र ।

(३२) श्री जीवाभिगम सूत्र ।

(३३) श्री महाप्रत्याख्यान सूत्र ।

(३४) श्री महानिशीथ सूत्र ।

(३५) श्री देवसुन्दरसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।

(३६) श्री सोमसुन्दरसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।

(३७) श्री जिनपतिसूरिकृत समाचारी प्रकरण ।
(३८) श्री अभयदेवसूरिकृत ,, ,, ।
(३९) श्री जिनप्रभसूरिकृत ,, ,, ।

इस प्रकार सैंकड़ों आचार्यों के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर मूर्ति पूजा की जाती है। अब इनमें से कौनसे आचार्यों को सावद्याचार्य कहा जाय ? कदाचित् ऐसा कहा जाय कि-'पूर्वधरों के समय में ज्ञान कंठस्थ था पर बाद में उसे पुस्तकारूढ़ करने में आया, अतः मानने में शंका रहती है'—परन्तु यह कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि उस समय में भी पुस्तकों के सर्वथा अभाव का उल्लेख कहीं नहीं है। क्या श्री ऋषभदेव स्वामी द्वारा चलाई गई लिपि का विच्छेद हो गया था ? यदि हाँ ! तो फिर लोगों के काम किस तरह चलते होंगे ?

फिर दूसरा प्रमाण यह है कि श्री वीर प्रभु के ९८० वर्ष पश्चात्, श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणादि सैकड़ों आचार्यों ने मिलकर एक करोड़ से भी अधिक पुस्तकें बनाई। उस समय आचार्यों से परम्परागत प्राप्त ज्ञान अविच्छिन्न रूप से पुस्तकों में बराबर यथातथ्य उतारने में आया, उसमें से बहुत से ग्रन्थ, जो सैकड़ों वर्ष पूर्व के लिखे हुए हैं, ज्ञान भंडारों में मौजूद हैं।

उस समय उन आचार्यों के कोई प्रतिपक्षी हुए हों तो उनकी तरफ से भी उस समय की लिखी पुस्तकें प्रमाण रूप में मौजूद होनी चाहिये, पर ऐसा लगता नहीं। तो फिर धर्म के स्तम्भ रूप पंडित पुरुषों और उनकी रचनाओं की अवज्ञा करने से महापाप के भागी बनने के सिवाय दूसरा क्या फल मिल सकता है ?

प्रश्न ६१—कई लोग कहते हैं कि श्री वीर संवत् ६७० में साचोरा गाँव में श्री महावीर स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई, उससे पहले मूर्ति थी ही कहाँ ?

उत्तर—इस कथन का कोई प्रमाण नहीं। यदि ऐसा हो तो लाखों वर्ष पूर्व मूर्ति पूजा करने के पाठ, मूल सूत्र में कहाँ से आये ? आज भी हजारों तथा लाखों वर्ष के मंदिर तथा मूर्तियाँ मौजूद हैं। उन मंदिरों तथा मूर्तियों की प्राचीनता की अंग्रेज शोधकर्ता तथा अन्य दार्शनिक विद्वान् भी साक्षी देते हैं।

प्राचीन मंदिरों और मूर्तियों के लिये कितने ही शास्त्रीय उल्लेख—

(१) श्री आवश्यक मूल पाठ में 'वग्गुर' श्रावक द्वारा मल्लिनाथ स्वामीजी का मंदिर पुरिमताल नगरी में बंधवाने का उल्लेख है।

(२) भरत चक्रवर्ती के श्री अष्टापद पर्वत पर चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उनके वर्ण, लंछन तथा शरीर के कद अनुसार स्थापित करने का श्री आवश्यक सूत्र के मूल पाठ में कथन है।

(३) निजाम हैदराबाद के पास में कुल्पाक गाँव में भरत राजा के समय में भरवाई हुई श्री ऋषभनाथ स्वामी की मूर्ति, जो समय के प्रभाव से मंदिर सहित जमीन में दब गई थी, हाल में ही कुछ समय पूर्व प्रगट हुई है। जमीन के अन्दर से मंदिर निकला है। प्रत्यक्ष के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं। आँखों से देखकर ज्ञात कर लेना कि वह तीर्थ प्राचीन है अथवा अर्वाचीन ? लोग इसे माणिक्यस्वामी की प्रतिमा भी कहते हैं और वह देवाधिष्ठित है।

(४) राधनपुर के पास में श्री शंखेश्वर गाँव में शंखेश्वर पार्श्वनाथजी की मूर्ति गत चौबीसी के श्री दामोदर नाम के तीर्थंकर के समय में बनी हुई, देवाधिष्ठित मौजूद है।

(५) बंबई के पास अगासी गाँव में श्री मुनिसुव्रतस्वामी की प्रतिमा उनके समय में बनी हुई कहलाती है।

(६) श्रीपाल राजा तथा सौ कुष्ठ रोगियों का कोढ़ श्री ऋषभनाथजी की मूर्ति के स्नान जल से दूर हुआ था वह मूर्ति श्री धूलेवा नगर में श्री केसरियानाथजी के नाम से पहचानी जाती है, जिसे लाखों वर्ष हो गये।

(७) राजा रावण के समय में बनी हुई, श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथजी की मूर्ति दक्षिण देश में आकोला के पास 'अंतरिक्षजी तीर्थ में विद्यमान है।

(८) इस चौबीसी के श्री नेमिनाथ भगवान् के शासन के २२२२ वर्ष पश्चात गोड़ देशवासी आशाढ नाम के श्रावक ने तीन प्रतिमाएँ भरवाईं। उनमें से एक खंभात में श्री स्तंभन पार्श्वनाथ की, दूसरी पाटण शहर में तथा तीसरी पाटण के पास में चारूप गाँव में अब विद्यमान हैं। उस पर निम्नानुसार लेख हैं।

'नमेस्तीर्थंकृते तीर्थे, वर्षद्विक चतुष्टये।
आषाढ़ श्रावको गौडो कारयेत प्रतिमा त्रयम्॥'

इत्यादि, इस हिसाब से ये प्रतिमाएँ लगभग ५,८६,७४४ वर्ष पुरानी हैं।

(९) मारवाड़ में नांदिया गाँव में श्री महावीर स्वामी मौजूद थे, तब उनकी मूर्ति स्थापित की हुई है जिसको जीवितस्वामी कहते हैं।

(१०) काठियावाड़ में श्री महुवा गाँव में भी भगवान् श्री महावीर स्वामी विचरते थे, उस समय की भरवाई हुई उनकी प्रतिमा है।

(११) जोधपुर के पास ओसिया नगर में श्री वीर निर्वाण के ७० वर्ष पश्चात स्थापित की हुई श्री महावीर भगवान् की मूर्ति श्री रत्नप्रभसूरि द्वारा प्रतिष्ठित की हुई है, जिसे २४३४ वर्ष हो गये। अन्य प्राचीन लेख भी वहाँ हैं।

(१२) भरुच शहर में श्री मुनिसुव्रतस्वामी के समय की उनकी मूर्ति है, जिसे लाखों वर्ष हो गये।

(१३) कच्छ प्रदेश में भद्रेश्वर तीर्थ का जो भव्य और अति प्राचीन जिनालय है उसका जीर्णोद्धार करते समय जब खुदाई का काम हुआ तो जमीन में से एक ताम्रपत्र मिला है जिस पर प्राचीन समय का लेख है। उसमें लिखा है कि—'यह मंदिर वीर संवत् २३ में बनवाया हुआ है, जिसको आज लगभग ढाई हजार वर्ष हो गये हैं।

(१४) बीकानेर में श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथजी के मंदिर में, चौबीस सौ तथा उससे भी अधिक वर्षों पुरानी सैकड़ों प्रतिमाएँ हैं।

(१५) सर कनिंगहाम की स्वयं की 'आर्चियोलॉजिकल रिपोर्ट में मथुरा में प्राप्त हुई कितनी ही मूर्तियों के लेख प्रगट

हुए हैं जिनकी नकलें श्री 'तत्व-निर्णय-प्रासाद' नाम के ग्रन्थ में छपी हुई हैं जिसे जिज्ञासु पढ़ सकते हैं।

(१६) संप्रति राजा द्वारा वीर संवत् २९० के बाद में बनवाई हुई लाखों मूर्तियों में से बहुत सी प्रनिमायें मारवाड़, गुजरात के अनेक गाँवों में मौजूद हैं।

पुनः इसके अतिरिक्त निम्न स्थलों पर अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

(१७) श्री घोधा में श्री नवखंडा पार्श्वनाथ।

(१८) श्री फलौदी में श्री फलवृद्धि पार्वनाथ।

(१९) श्री भोयणी में श्री मल्लिनाथजी भगवान्।

(२०) श्री आबू के मन्दिरों में अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ हैं।

(२१) श्री कुमारपाल राजा द्वारा बनवाया हुआ श्रीतारंगा जी तीर्थ का गगनचुंबी जिनालय और उसमें विराजमान श्री अजितनाथ स्वामी की विशालकाय भव्य मूर्ति।

(२२) श्री वरकाणा में वरकाणा पार्श्वनाथ।

(२३) श्री सिद्धाचलजी पर हजारों मन्दिर एवं बिंब।

(२४) श्री गिरनारजी पर मन्दिर और सैंकड़ों प्रतिमायें।

(२५) श्री सम्मेतशिखरजी पर रहे अनेक जिनप्रासाद।

और भी अनेक श्री जिन मन्दिर तथा मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर श्री जिनपूजा की प्राचीनता एवं शास्त्रीयता का जीवित प्रमाण देती हैं। यदि मूर्ति पूजा का निषेध होता, तो उपरोक्त जिन मन्दिरों के पीछे करोड़ों रुपयों का खर्च कैसे होता? सूत्रों में किसी स्थान पर भी श्री जिन पूजा का निषेध नहीं है और स्थान-स्थान पर श्री जिन पूजा की आज्ञा है।

"से किं तं उवासगदसाओ ? उवासगदसासु णं उवासगाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइग्राइं वणखंडा रायाणो ग्रम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाग्रो इहलोइयपर लोइय इड्ढिविसेसा।"

श्री ठाणांग सूत्र में श्रावक को, (१) जिनप्रतिमा (२) जिन-मंदिर (३) शास्त्र (४) साधु (५) साध्वी (६) श्रावक-श्राविका' —इन सात क्षेत्रों में धन खर्च करने का हुक्म फरमाया है तथा ग्रन्य सूत्रों में भी ये सात क्षेत्र श्रावक के लिए सेव्य बतलाये हैं। श्रावक ग्राणंद ग्रादि बारह व्रतधारी, दृढ़ धर्मनिष्ठ श्रावक थे। श्री उत्तराध्ययन के २८ वें ग्रध्ययनानुसार सम्यक्त्व के ग्राठ ग्राचारों का उन्होंने सेवन किया है। उसमें सात क्षेत्र भी ग्रा जाते हैं क्योंकि ग्राचारों में साधर्मिक वात्सल्य तथा प्रभावना ये दो ग्राचार भी कहे हैं। साधर्मिक वात्सल्य में साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका–ये चारक्षेत्र जानने तथा प्रभावना में श्री जिनबिंब, श्री जिन मंदिर, तथा शास्त्र–ये तीन गिने जाते हैं।

ग्रानंद, कामदेवादि श्रावकों के ग्रतिरिक्त प्रदेशी राजा ने भी श्री जिन मंदिर बनवाये हैं।

प्रश्न ६२—पहले ग्रसंख्य वर्षों की प्रतिमाएँ होने का कहा पर पुद्गल की स्थिति इतने वर्षों की न होने से किस प्रकार प्रतिमायें स्थिर रह सकती हैं ?

उत्तर—श्री भगवती सूत्र में पुद्गल की जो स्थिति बताई है, वह सामान्य से स्वाभाविक स्थिति बताई है पर जिसकी देव रक्षा करते हैं वे तो ग्रसंख्य वर्ष तक रह सकते हैं जैसे श्री जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में लिखा है कि—

"भरतचक्रवर्ती दिग्विजय कर ऋषभकूट पहाड़ पर पूर्व में हो चुके अनेक चक्रवर्तियों के नाम मिटा कर उन्होंने अपना नाम लिखा।"

अब सोचो कि "भरत चक्रवर्ती के पहले अठारह कोड़ा कोड़ी सागरोपम भरतक्षेत्र में धर्म का विरह रहा है, तो इतने असंख्य काल तक मनुष्य लिखित नाम रहे कि नहीं ? अवश्य रहे। तो फिर शंखेश्वर पार्श्वनाथ आदि की मूर्तियाँ देवता की सहायता से रहें, इसमें क्या आश्चर्य है ? ऋषभकूट आदि पहाड़ शाश्वत हैं, पर नाम तो बनावटी है। यदि नाम भी शाश्वत हों तो उनको कोई नहीं मिटा सकता।

फिर कोई कहता है कि–'पृथ्वीकाय तो २२००० वर्ष से अधिक नहीं रहते तो क्या देवता आयुष्य बढ़ाने में समर्थ हैं ? उसके उत्तर में कहने का है कि–'मूर्ति पृथ्वीकाय जीव नहीं है; निर्जीव वस्तु है। अनुपम देवभक्ति के द्वारा उसे असंख्य वर्षों तक भी रक्खा जा सकता है, क्योंकि जैन शास्त्रानुसार किसी भी पुद्गल द्रव्य का अनंतकाल तक भी सर्वथा नाश नहीं होता। अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा सभी पुद्गल शाश्वत हैं; पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत हैं। जैसे पर्वत में से एक पत्थर का टुकड़ा लो तो उस टुकड़े का पर्याय बदलेगा पर पूर्णतया नष्ट तो किसी काल में भी नहीं होगा। उसी रीति से तमाम पुद्गलों को समझना चाहिये !

पुन: श्री जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति में अवसर्पिणी काल के पहले आरे का वर्णन करते हुए कहा है कि—

"घने जंगलों, वृक्षों, फूल-फलों से सुशोभित, सारस हंस आदि जानवरों से भरपूर, ऐसी बावड़ियों तथा पुष्करिणी और दीर्घीकाओं से श्री जंबूद्वीप की शोभा हो रही है"।

सोचो कि पहले आरे में ये बावड़ियें आदि कहाँ से आईं ? इस भरतक्षेत्र में नौ कोड़ाकोड़ी सागरोपम से तो युगलिक रहते थे। युगलिक तो बावड़ियाँ आदि बनाते नहीं है, अतः यदि वे शाश्वत नहीं हैं, तो फिर उन्हें किसने बनाया ?

जिस प्रकार ये बावड़ियाँ असंख्य वर्षों से कायम रहीं तो फिर देवताओं की सहायता से मूर्तियाँ भी कायम कैसे न रहे ?

प्रश्न ६३—चैत्य शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ?

उत्तर—श्री सुधर्मस्वामी के परंपरागत आचार्यों ने 'चैत्य' शब्द का जो अर्थ लिखा है वह भगवान् महावीर द्वारा कथित है। परम उपकारी कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचंद्राचार्य ने अपने, अनेकार्थसंग्रह में इस प्रकार अर्थ किया है।

"चैत्यं जिनौकस्तद्बिंबं, चैत्यो जिनसभा तरु.।'

अर्थ—चैत्य कहने से (१) जिन मंदिर (२) जिन प्रतिमा (३) जिनराज की सभा का चोतराबंध वृक्ष।

इसके सिवाय दूसरा अर्थ शास्त्र में नहीं है, तथा होता भी नहीं। अमरकोष अथवा अन्य कोई भी कोषग्रंथ देखो, उनमें इसके सिवाय दूसरा अर्थ नहीं कहा है। अतः इसके सिवाय मनगढ़न्त अर्थ करने वालों को झूठा समझना चाहिये। सूत्रपाठों में जहाँ जहाँ उस शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वहाँ दूसरा अर्थ लागू हो ही नहीं सकता।

प्रश्न ६४—'चैत्य' शब्द का अर्थ कितने ही 'साधु' अथवा 'ज्ञान' करते हैं। क्या यह उचित है ?

उत्तर—'चैत्य' का अर्थ 'साधु' या 'ज्ञान' किसी प्रकार नहीं हो सकता तथा शास्त्र के संबंध में वह अर्थ उपयुक्त भी नहीं। साधु की जगह तमाम सूत्रों में

"साहु वा साहुणी वा"

"भिक्खु वा भिक्खुणी वा"

ऐसा कहा है, पर—

"चैत्यं वा चैत्यानि वा।"

ऐसा तो कहीं भी नहीं कहा है तथा 'भगवान् श्री महावीर स्वामी के चौदह हजार साधु थे', ऐसा कहा है, पर 'चौदह हजार चैत्य थे', ऐसा नहीं कहा। इस प्रकार अन्य सभी तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों आदि के 'इतने हजार साधु थे', ऐसा कहा है पर 'चैत्य थे' ऐसा शब्द किसी जगह नहीं है।

तथा चैत्य शब्द का अर्थ 'साधु' करें तो साध्वी के लिये नारी जाति में कौनसा शब्द उसमें से निकल सकेगा। कारण कि चैत्य शब्द स्त्रीलिंग में बोला नहीं जाता।

श्री भगवती सूत्र में (१) अरिहंत, (२) साधु और (३) चैत्य, ऐसे तीन शरण कहे हैं। वहाँ जो 'चैत्य' शब्द का अर्थ 'साधु' करें तो उसमें 'साधु' शब्द अलग से क्यों कहा? तथा ज्ञान कहें तो अरिहंत शब्द से ज्ञान का संग्रह हो गया, क्योंकि ज्ञान रूपरहित है, वह ज्ञानी के सिवाय होता नहीं इसलिये चैत्य से जिनप्रतिमा का ही अर्थ निकलता है। "अरिहंत" ऐसा अर्थ भी संभव नहीं क्योंकि—"अरिहंत" भी प्रथम साक्षात् शब्द में कहा हुआ है।

'चैत्य' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' करना, यह भी सर्वथा असत्य है क्योंकि श्री नंदी सूत्रादि में जहाँ २ पाँच प्रकार के ज्ञान का अधिकार है वहाँ वहाँ—

"नाणं पंचविह पण्णत्तं।"

ऐसा कहा है पर—

"चेइयं पंचविह पण्णत्तं।"

ऐसा तो कहीं नहीं लिखा। तथा उसका नाम मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान कहा है पर मतिचैत्य, श्रुतचैत्य अथवा केवलचैत्य इत्यादि किसी जगह नहीं लिखा तथा उस ज्ञान के स्वामी को मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, केवलज्ञानी इत्यादि शब्दों से परिचित करवाया है न कि मतिचैत्यी, श्रुतचैत्यी अथवा केवलचैत्यी शब्दों से। किसी को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ तो उसे 'जातिस्मरणज्ञान' हुआ, ऐसा कहा है पर 'जातिस्मरणचैत्य' उत्पन्न हुआ, ऐसा नहीं लिखा।

श्री भगवती सूत्र में जंघाचारण-विद्याचरण मुनियों के अधिकार में 'चेइयाइं' शब्द है तथा दूसरे बहुत से स्थानों पर वह शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसका अर्थ यदि ज्ञान करते हैं तो ज्ञान तो एकवचन में है जबकि 'चेइयाइं' बहुवचन में है। अत: वह अर्थ गलत है। पुन: श्री नंदीश्वरद्वीप में अरूपी ज्ञान का ध्यान करने के लिये जाने की क्या जरूरत है? अपने स्थान पर बैठे हुए वह ध्यान हो सकता है अत: वहाँ प्रतिमाओं से ही तात्पर्य है।

अब चैत्य का अर्थ साधु अथवा ज्ञान करने वाले भी कई जगह प्रतिमा का अर्थ करते हैं। उनके थोड़े से दृष्टांत—

(१) श्री प्रश्न व्याकरण के आश्रव द्वार में चैत्य शब्द का अर्थ 'मूर्ति' किया है।

(२) श्री उववाई सूत्र में 'पुण्णभद्द चेइए होत्था'। यहाँ चैत्य का अर्थ मंदिर और मूर्ति कहा गया है।

(३) श्री उववाई सूत्र में 'बहवे अरिहंत चेइयाइं।' यहां भी मंदिर और मूर्ति का अर्थ कहा गया है।

(४) श्री भद्रबाहु स्वामी ने श्री व्यवहार सूत्र की चूलिका में द्रव्यलिंगी "चैत्य स्थापना" करने लग जायेंगे, वहां "मूर्ति की स्थापना" करने लग जायेंगे, ऐसा अर्थ किया गया है।

(५) श्री ज्ञाता सूत्र, श्री उपासकदशांग सूत्र, श्री विपाक सूत्र में 'पुण्णभद्द चेइए।' कहकर पूर्णभद्रयक्ष की मूर्ति व मंदिर का अर्थ कहा गया है।

(६) अंतगडदशांग सूत्र में भी जहाँ यक्ष का चैत्य कहा गया है वहाँ उसका भावार्थ मंदिर या मूर्ति बताया है।

प्रश्न ६५—कौनसे सूत्र में तीर्थयात्रा का विधान हैं ? और उससे क्या लाभ होता है ?

उत्तर—तीर्थ दो प्रकार के हैं। (१) जंगम तीर्थ—यानी चतुर्विध संघ और (२) स्थावर तीर्थ—यानी श्री शत्रुंजय, गिरनार, नंदीश्वर, अष्टापद, आबू, सम्मेतशिखर आदि हैं—जिनकी यात्रा जंघाचारण मुनिवर भी करते हैं, ऐसा श्री भगवतीजी

सूत्र में फरमाया है। श्री गौतमस्वामीजी भी अष्टापद पर गये थे।

कर्मशत्रु को जीतने वाला, ऐसा जो शत्रुंजय पर्वत है, वहां से अनंत जीव मोक्ष गये हैं, ऐसा श्री ज्ञाता सूत्र में कहा गया है।

श्री आचारांग सूत्र में दूसरे श्रुतस्कंध में नीचे माफिक तीर्थभूमि बताई है—

"जम्माभिसेय-निक्खमण चरणुप्पायनिव्वाणे ॥
दियलोअभवणमंदरनंदीसरभोमनयरेसु ॥१॥
अट्ठावयमुज्जिते गयग्गपयए व धम्मचक्के य ॥
पासरहावत्तनगं चमरुपायं च वंदामि ॥२॥

"तीर्थंकर देव के जन्माभिषेक की भूमि, दीक्षा लेने की भूमि, केवलज्ञान उत्पत्ति की भूमि, निर्वाण-भूमि, देवलोक के सिद्धायतन, भुवनपतियों के सिद्धायतन, नंदीश्वर द्वीप के सिद्धायतन, ज्योतिषी देवविमानों के सिद्धायतन, अष्टापद, गिरनार, गजपद तीर्थ, धर्मचक्र तीर्थ, श्री पार्श्वनाथ स्वामी के सर्वतीर्थ, जहाँ श्री महावीर स्वामी काऊसग्ग में रहे, वह तीर्थ, इन सबकी मैं वन्दना करता हूँ"।

श्री भद्रबाहुस्वामी श्री आवश्यक निर्युक्ति में फरमाते हैं, कि श्री तीर्थंकर देवों का जहाँ जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण निश्चित रूप से हुआ हो, उस भूमि के स्पर्श से सम्यक्त्व दृढ होता है।

श्री महावीर स्वामी के हस्तदीक्षित शिष्य, अवधिज्ञान को धारण करने वाले श्री धर्मदासगणी श्री उपदेशमाला प्रकरण में कहते हैं कि—श्रावक जिनराज के पाँचों कल्याणकों के स्थान पर यात्रा के लिये जावे। स्थावर तीर्थ की यात्रा से अंतः-करण की शुद्धि होती है।

श्री महाकल्प सूत्र में तीर्थयात्रा के उत्तम फल का वर्णन है। यद्यपि अपने रहने के स्थान पर भी मंदिर होते हैं, पर तीर्थयात्रा में उसकी अपेक्षा विशेष लाभ होता है क्योंकि घर पर तो व्यापार, रोजगार, सगे-संबंधी आदि की चिन्ताएँ रुकावट डालती हैं। पूरा दिन उसी के संकल्प विकल्प में रहने से धर्मध्यान में चित्त स्थिर नहीं रह सकता, परन्तु घर छोड़ने के पश्चात् ये सब उपद्रव दूर हो जाते हैं तथा साथ में अन्य साधर्मिक बंधु होने से उनके साथ धार्मिक चर्चा से मन प्रफुल्लित होता है; शास्त्र का ज्ञान मिलता है; मार्ग में अनेक गाँव व शहर पड़ते हैं, जहाँ उत्तम साधुजनों तथा सुज्ञ श्रावकों का सम्पर्क मिलने से नवीन शिक्षा तथा बोध की प्राप्ति होती है।

तीर्थभूमि में ऐसे अनेक सज्जनों से मिलने का लाभ होता है तथा उनके समीप रहने से बहुत फायदा होता है। घर पर ऐसे महात्मा व उत्तम पुरुषों का समागम कदाचित् ही मिल पाता है और समयाभाव होने से उनसे विशेष लाभ भी नहीं लिया जा सकता।

तीर्थ भूमि पर श्री तीर्थंकर, श्री गणधर तथा अन्य उत्तमो-त्तम व्यक्तियों का निर्वाण हुआ है अतः वे याद आते हैं और

उनका गुणानुवाद करने का उत्तम प्रसंग मिलता है। यह बुद्धि निर्मल होने का एक विशेष साधन है तथा पूज्य पुरुष जिस राह पर चलकर गुणवान हुये, उस राह पर चलने की हमारी भी इच्छा होती है। उस समय संसार असार सा लगता है तथा उससे विरक्त होकर मन आत्मचिन्तन करता है। परभाव में रमण करने की इच्छा नहीं होती। आत्मिक गुणों को प्रगट करने के अनेक साधन प्राप्त होने से उसमें प्रयत्नशील बना जा सकता है।

जिस २ प्रकार से आत्मविशुद्धि हो सकती है, उन सब उपायों को जुटाने का बहुमूल्य अवसर मिलता है। कितने ही ध्यान-प्रिय लोग पहाड़ की गुफाओं में जाकर, एकांत में बैठ कर आत्मा तथा जड़ के विभाग तथा दोनों में रहने वाली भिन्नता का विचार करते हैं, धर्मध्यान में तल्लीन बनते हैं और शुक्ल ध्यानादि ध्यान किया जा सके, उसके लिये अभ्यास करते हैं।

अधिक शुद्धि का दूसरा कारण भी यह है कि उत्तम मनुष्यों के शरीर के पुद्गल-परमाणु वहाँ फैले हुए हैं। वे सब उत्तम होते हैं। जब भी क्षपक श्रेणी करने की इच्छा हो तब वज्रऋषभनाराच संघयण की परम आवश्यकता है। उसके बिना उत्तम ध्यान हो ही नहीं सकता। इससे पुद्गल की सहायता भी आवश्यक है।

जिन व्यक्तियों की मुक्ति निकट में होती हैं, ऐसे उत्तम पुरुषों के शरीर में ध्यान को पुष्ट करने वाले पुद्गल एकत्रित हो चुके होते हैं। अब वे तो निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं, परन्तु

उनके वे पुद्गल उनकी निर्वाण भूमि में बिखरे हुए होते हैं। वहाँ अधिकतर अच्छे पुद्गलों का ही समूह होता है और वे अपने में प्रवेश कर जाते हैं। यद्यपि बहुत समय बीत गया है; फिर भी वे सभी पुद्गल नष्ट नहीं होते।

ऐसे पवित्र स्थान पर पुण्यवान स्त्री-पुरुषों के ऐसे निर्मल पुद्गलों के स्पर्श से बुद्धि कितनी निर्मल होती होगी, इसका अनुमान अनुभव बिना नहीं लगाया जा सकता। हो सकता है, दुर्भागी मनुष्य को वहाँ अच्छे के बदले खराब पुद्गलों का स्पर्श हो जाय, तो यह उनके कर्म का ही दोष है। मुख्य रूप से तो वहाँ उत्तम पुद्गलों का ही सद्भाव है। इस प्रकार घर की अपेक्षा तीर्थयात्रा में कई गुणा लाभ प्राप्त होता है और धर्म-ध्यान निर्विघ्न एवं सुगम बन जाता है।

प्रश्न ६६—भगवान् की पूजा-पूजक को हितकारी है फिर भी चिंतामणि रत्न की तरह उसका फल तुरन्त यहीं पर क्यों नहीं प्राप्त हो जाता ?

उत्तर—इस विषय में दूर दृष्टि से विचार करने की जरूरत है। प्रत्येक वस्तु को जिस काल में फलने का होता है, वह उस काल में ही फलती है। कहावत है कि—"जल्दी में आम नहीं पकते" जैसे कि खेत में बीज बोने के बाद उसका समय पूर्ण होने पर ही अनाज पकता है, पहले नहीं।

गर्भस्थिति प्रायः नौ महीने बीतने के बाद ही प्रसूति होती है। वनस्पति, फल, फूल भी एकदम नहीं पकते। चक्रवर्ती

राजा, इन्द्रदेवता प्रमुख की, की हुई सेवा तत्काल नहीं, पर समय आने पर ही फल देती है। मंत्र-जाप भी कोई हजार जाप से तो कोई लाख व कोई करोड़ जाप से सिद्ध होता है। रोग-निवारण के लिये की हुई दवा भी स्थिति पकने पर ही असर करती है। पारा सिद्ध करते बहुत समय लगता है। इस प्रकार सभी कार्य अपनी २ अवधि पूरी होने पर ही फल देते हैं।

इसी प्रकार इस भव में भाव सहित की हुई द्रव्य पूजा का महान् पुण्य भवांतर में भोगा जा सकता है तथा सामान्य पूजा का सामान्य पुण्य तो कदाचित इस जन्म में भी भोगा जा सकता है! उत्तम फल देने वाले कार्यों में ज्ञानी पुरुषों को उतावले या चितातुर नहीं होना चाहिये। चिंतामणि रत्न आदि से मिलने वाला फल पूजा के फल की तुलना में किसी गिनती में नहीं। वह तो तुच्छ फल को देने वाला है तथा वह परभव में नहीं पर इस मनुष्य भव में ही जो अधिकतर अल्प समय के लिये होता है, उसी में फल देता है। परन्तु पूजा से उपार्जित पुण्य का फल बहुत बड़ा होने से अधिक समय में भोगने योग्य होता है। वह दीर्घकाल देवताओं के आयुष्य में ही हो सकता है। इसलिये वह महान् पुण्य, जीव को दूसरे जन्म में उत्पन्न होने के बाद ही उदय में आता है।

यदि इस भव में ही वह प्राप्त हो जाय तो मनुष्य की आयु सामान्य रूप से अल्प होने से तथा मनुष्य शरीर रोगी एवं शीघ्र नाशवान् होने से उसे भोगते हुए मृत्यु हो जाने से वह पुण्य रूपी डोरी बीच में ही टूट जाती है तथा उस बीच मौत रूपी महादुःख भोगना पड़ता है जिसकी तुलना में अन्य कोई दुःख विशेष भयंकर नहीं। ऐसे बड़े पुण्य का फल भोगते हुए

बीच में मृत्यु का आ जाना कितना बड़ा अनिष्ट गिना जाता है? जरा सोचो कि—

किसी गाँव की तुच्छ झोंपड़ी में रहने वाला गरीब मनुष्य, परदेश जाकर करोड़ों रुपये कमा कर घर लौट आया। वह क्या इस छोटी झोंपड़ी में अपनी अपार दौलत का भोग कर सकेगा? कभी नहीं। उस धन का भोग करने के लिये भव्य महल-हवेली उस स्थान पर बनवानी पड़ेगी। ऐसा करने में उस पुरानी झोंपड़ी का अवश्य नाश करना ही पड़ेगा।

इस प्रकार झोंपड़ी जैसा तुच्छ मनुष्य का यह शरीर है और करोड़ों की दौलत रूपी उस पूजा का महापुण्य है। जैसे झोंपड़ी में बैठे २ वह पुरुष अपार धन का भोग नहीं कर सकता, वैसे ही इस क्षणभंगुर, रोगी, मानव-देह में रहा हुआ जीव महापुण्य का फल नहीं भोग सकता। वह पुरुष जैसे झोंपड़ी छोड़ कर आलीशान महल बनाकर वैभव की सामग्री जुटाता है, वैसे ही जीव भी अपने अल्पकालीन झोंपड़ी-रूप शरीर को छोड़कर महल रूपी देव आदि के उत्तम शरीर को प्राप्त कर उसके द्वारा पुण्य का स्वाद दीर्घकाल तक भोगता है।

जैसे बड़े परिश्रम से प्राप्त मूल्यवान् वस्तु लम्बे समय तक भोगते रहने पर भी नष्ट नहीं होती, वैसे श्री जिन पूजादि शुभ कार्यों से उपार्जित पुण्य भी अधिक समय तक भोगते रहने पर भी समाप्त नहीं होता। अतः किसी भी समय कोई उत्कृष्ट भाव आ जाय और पूजा से महापुण्य बँध जाय तो उसी अनुक्रम से उच्च गति में पहुँच जायेंगे, यावत् श्री तीर्थंकर गोत्र का का भी बंध जिन-पूजा से होता है।

प्रश्न ६७—सूर्याभ देवता ने श्री महावीर भगवान् के पास नाटक करने को कहा तब प्रभु मौन क्यों रहे ? वह सावद्य कार्य था इसीलिये न ?

उत्तर—उस समय सूर्याभदेव ने क्या कहा, उस विषय में श्री रायपसेणी सूत्र के नीचे के पाठ पर ध्यान दो।

"अहण्णं भंते ! देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वयंगोयमाईणं समणाणं निग्गंथाणं बत्तीसइबद्ध नट्ठविहिं उवदंसेमि"

"हे भगवान् ! मैं आपके सामने भक्ति पूर्वक गौतमादि श्रवण निर्ग्रन्थों को बत्तीस प्रकार का नाटक बताऊँगा।"

सूत्रकार तो "भक्ति-पूर्वक" लिखते हैं, फिर भी उसको मन से—कल्पित रूप से सावद्य कह देना कितना अनुपयुक्त है ? साथ ही सूर्याभ ने प्रश्न के रूप में नहीं पूछा, बल्कि अपनी इच्छा प्रगट की है। ऐसी बातचीत में जवाब देने की जरूरत मना करते समय ही रहती है; स्वीकार करते समय नहीं। अगर सवाल के रूप में पूछा होता तो, सूर्याभ जैसा महा विवेकी भगवान् के जवाब के बिना कार्य का आरंभ न करता। जैसे कोई नौकर किसी कार्य के लिये आज्ञा पाने के लिए अपने स्वामी को प्रश्न करे, फिर भी आज्ञा के रूप में जवाब प्राप्त किये बिना वह नौकर यदि कार्य शुरू करदे तो वह महा अविवेकी और आज्ञा का उल्लंघन करने वाला ही गिना जायेगा। परम सम्यक्त्ववान् सूर्याभ को ऐसा कैसे माना जा सकता है ? भक्ति की इच्छा प्रगट करने के वाक्य में मौन रहने से, आज्ञा ही समझी जाती है और मना करना हो तभी बोलने की आवश्यकता रहती है।

जैसे श्रावक गुरु के पास आकर इच्छा व्यक्त करता है कि—'हे गुरुजी ! मैं आपकी भक्ति पूर्वक वंदना करूँ ।' अब यदि गुरु कहते हैं कि,—"हाँ, करो ।" तो इससे स्वयं के मुख से ही स्वयं को, वंदन करने का कहने से गुरु मानलोभी कहलाता है और यदि 'ना' कहे तो गुरुवंदन का कार्य सावद्य कहा जाकर उसका निषेध हो जाता है। इस प्रकार—"सरोते के बीच सुपारी" जैसी दशा हो जाती है। तब इस कार्य को निरवद्य जानकर गुरु के लिये चुप रहने के सिवाय कोई रास्ता नहीं।

जैसे कोई कसाई यदि गुरु के पास आकर एक जीव को उसकी भक्ति के रूप से मारने का कहे तो गुरु क्या जवाब देगा ? यदि चुप रहे तो कसाई समझेगा कि—"साधु की इस कार्य में अनुमति होने से मुझे नहीं रोकते" और फलस्वरूप वह मारने लग जायेगा। पर यदि साधु ऐसा कहे कि, "यह काम सावद्य होने से इसमें भक्ति नहीं हैं" तभी वह मारने से रुकेगा।

आजकल के अल्पज्ञानी साधु भी सावद्य-निरवद्य तथा भक्ति-अभक्ति के हेतू को जान कर योग्य वर्तन करते हैं, तो फिर जगद्गुरु सर्वज्ञ भगवान्, अगर गौतमस्वामी महाराज आदि नाटक पूजा को सावद्य समझते तो, उसका निषेध कैसे नहीं करते ?

"भक्तिपूर्वक" शब्द शास्त्रकारों ने काम में लिया है इससे सूर्याभदेव की भक्ति प्रधान है और भक्ति का फल श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन में मोक्ष तक का कहा है। क्षायिक, सम्यक्त्वी, एकावतारी, तीन ज्ञान के स्वामी सूर्याभदेव क्या देव-गुरु भक्ति की विधि को नहीं जानते होंगे। साथ ही भगवान्

तथा दूसरे सूत्रकारों ने भी इस कार्य में भक्ति का समावेश किया है और इसी कारण उसका निषेध नहीं किया।

अगर मौन रहने का अर्थ निषेध ही करें तो श्री भगवती सूत्र के ११वें शतक में कहा है कि—श्री वीरप्रभु के मुख से बहुत से श्रावकों ने ऋषिभद्र की प्रशंसा सुनकर उनको वंदन किया, अपराधों की क्षमा मांगी तथा बारहवें शतक में भी ऐसा उल्लेख है कि भगवान् के मुख से शंखजी श्रावक की प्रशंसा सुनकर श्रावकों ने उनकी खूब ही वंदना की तथा बहुत से श्रावकों ने उनसे क्षमा याचना की। इन दोनों प्रसंगों पर भगवान् चुप रहे। यदि भगवान् के मौन के कारण इन कार्यों को उनकी आज्ञा के विरुद्ध कहोगे तो यह कोई नहीं मानेगा कारण यह है कि—'भगवान् ने सब कुछ जानते हुए भी ऊपर माफिक श्रावकों की प्रशंसा क्यों की तथा वंदन करते हुए श्रावकों को क्यों नहीं रोका ? ऐसा प्रश्न खड़ा होगा।

श्री जीवाभीगम, श्री भगवतीजी तथा श्री ठाणांगसूत्र में देवतागण श्री नंदीश्वर द्वीप में अट्ठाई महोत्सव, नाटक इत्यादि करते हैं,उनको आराधक कहा है, न कि विराधक।

श्री रायपसेणी सूत्र में भी सूर्याभदेव के सेवकों ने समवसरण के विषय में भगवान् से कहा, तब भगवान् ने उनकी प्रशंसा की है। श्री ज्ञातासूत्र आदि में कहा है कि श्री पार्श्वनाथजी की अनेक साध्वियां चारित्र विरोधी, तपस्विनियाँ, बनी और अज्ञान तपस्या के प्रभाव से श्री महावीर परमात्मा के सम्मुख उन्होंने, कई प्रकार के नाटक, किये जिसका फल गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् ने फरमाया कि—

"इस नाटक की भक्ति करके वे एकावतारीपन को प्राप्त हुई हैं"

कितने ही कहते हैं कि—मृगापृच्छा में भी साधु यदि मौन धारण करे तो वहाँ क्या अर्थ समझना ? मृगापृच्छा में साधु को मौन रहने का कहीं भी नहीं कहा है। श्री आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध में कहा है कि—

"जाणं वा नो जाणं वंदेज्जा"

अर्थात्—साधु जानता हो तो भी कहे कि—मैं नहीं जानता हूँ, अथवा मैंने नहीं देखा, ऐसा ही कहे।

श्री भगवती सूत्र के आठवें शतक के पहले उद्देस में लिखा है कि—

"सच्चमणप्पओगपरिणय मोसवयाप्पओगपरिणया"

अर्थात्—मृगापृच्छादि में मन में तो सत्य है और वचन में मिथ्या है।

श्री सूयगडांग सूत्र के आठवें अध्ययन में भगवान् फरमाते हैं कि—

"सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ"

मृगापृच्छादि बिना असत्य न बोले, यह संयमियों का धर्म है। अर्थात् उस समय असत्य भाषा बोले, ऐसी प्रभु की आज्ञा है।

प्रश्न ६८—ज्ञान की महत्ता विशेष है या क्रिया की ?

उत्तर—ज्ञान के बिना सत्य-असत्य का पता नहीं चलता। ज्ञान के बिना जगत् का स्वरूप समझ में नहीं आता। ज्ञान के अभाव में देव, गुरु और धर्म के लक्षणों की पहचान नहीं होती। ज्ञान के बिना धर्म क्रियायें अंधक्रियाओं की भाँति अल्प फल देने वाली होती हैं। शुद्ध ज्ञान रहित क्रिया तो केवल अज्ञान कष्ट है। उससे उच्चगति प्राप्त नहीं की जा सकती क्योंकि जमाली, गोशाला आदि ने क्रिया पूरी पाली। उनके समान दया कौन पाल सकता था? फिर भी भगवान् की आज्ञा विरुद्ध प्रवृत्ति होने से वे संसार का क्षय नहीं कर सके।

जो एकांत क्रिया से बड़ा स्वांग रचकर, गुरु बनकर, संसार को ठगते हैं, उन्हें सोचना चाहिये कि जमाली आदि की करणी के सामने उनकी क्रिया किस अनुपात में है? मिथ्यात्व रूप से की हुई क्रिया के द्वारा देवगति आदि के सुख भले ही मिले, पर उससे संसार-भ्रमणता कम नहीं होती। जंगल में रहने वाले, हाथ में ही भोजन करने वाले, महान् कष्टों को सहन करने वाले, नग्न घूमने वाले, व्रतधारी और तपस्वी मिथ्यात्वी ऋषि-मुनियों के बराबर का वर्तमान में कोई लक्षांश भाग की क्रिया पालन करते हुए दिखाई नहीं देता, तो केवल क्रिया पक्ष-वालों को तो ऐसे ही गुरु को धारण करना चाहिये।

शास्त्रकार कहते हैं कि, "करोड़ों वर्षों तक पंचाग्नि तप-जप करके अज्ञानी क्रियावादी, आत्मा की जो शुद्धि नहीं कर सकता, उतनी आत्म शुद्धि ज्ञानी मनुष्य एक श्वासोश्वास मात्र में करता है।"

श्री भगवती सूत्र में फरमाया है कि—"क्रिया से भ्रष्ट हुआ ज्ञानी आंशिक विराधक है और सर्व से आराधक है; जबकि

ज्ञान से भ्रष्ट क्रिया करने वाला आंशिक आराधक है, पर सर्वतः विराधक है।"

इसीलिये कहा है कि—

"पढमं नाणं तओ दया"

अर्थात्—दया की अपेक्षा ज्ञान प्रथम श्रेणी में है।

"हिंसा में पाप है"—ऐसा प्रथम ज्ञान होने से ही हिंसा के कार्य से दूर रहा जायेगा, अन्यथा नहीं। अतः शुद्ध ज्ञानपूर्वक की हुई क्रिया ही संसार से पार उतारने में समर्थ है, ऐसा समझकर सम्यग्ज्ञान का उपार्जन करने के लिये उद्यम करना चाहिये।

परंतु यह ध्यान में रखना कि-ज्ञान, दया पालने के लिये है, पर दया को एक ओर रखने के लिये नहीं। दया अथवा दया को लाने वाली क्रिया, इसकी ही यदि कीमत नहीं करें, तो इसके लिये प्राप्त ज्ञान की भी कीमत कुछ नहीं है। दुनिया में जीने की कीमत है, इसलिये खाने की कीमत है। यदि जीने की कीमत न होती तो इसे बनाये रखने के लिये खाने की भी कभी कोई कीमत नहीं हो सकती थी।

इसी प्रकार दया की कीमत है और इसीलिये दया को लाने वाले ज्ञान की कीमत है। तप की कीमत है इसीलिये तप की महिमा समझाने वाले ज्ञान की कीमत है। श्री जिनपूजा कीमती है इसीलिये श्री जिन और उसकी पूजा का प्रभाव समझाने वाले ज्ञान की कीमत है। इससे विपरीत समझाने वाले ज्ञान की कीमत, जैन शासन में फूटी कौडी के बराबर भी नहीं है।

मोक्ष हेतु क्रिया के प्रति भाव पैदा करने वाले ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान माना है। मोक्ष जितना महान् है, उसकी प्राप्ति के

उपायों को समझाने वाला ज्ञान भी उतना ही महान् हैं। जो ज्ञान मोक्ष एवं मोक्ष मार्ग से विमुख करे, भववृद्धि के मार्ग पर ले जाये, तप, संयम तथा जिनपूजादि सद् अनुष्ठानों से आत्मा को वंचित रक्खें, उस ज्ञान को शास्त्रकारों ने मिथ्याज्ञान की उपमा देकर, घृणा योग्य बताया है।

संसार जितना घृणित है, उतना ही संसारवृद्धि के मार्ग पर ले जाने वाला ज्ञान भी घृणित है। ऐसे मिथ्याज्ञान को प्राप्त करने की अपेक्षा अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी रहना हजार गुना अच्छा है। सम्यग्ज्ञानी की छत्रछाया में रहने वाले अज्ञानी या अल्पज्ञानी का मोक्ष होता है, परन्तु मिथ्याज्ञानी की सिद्धि शास्त्रकारों ने कहीं नहीं बताई है।

सम्यग्ज्ञान जीव को जिन पूजादि शुभ कार्यों में लगाता है, इसलिये उस ज्ञान की वृद्धि हेतु तनतोड़ प्रयास करना सम्यग्दृष्टि आत्माओं का परम कर्तव्य है। इस पुस्तक में थोड़ा भी सम्यग् ज्ञान ही देने का यथाशक्ति प्रयास किया गया है। इसका भव-भीरु आत्मा यथाशक्ति लाभ लेकर अपना व दूसरों का श्रेयः साधे तथा श्री जिनभक्ति में तल्लीन बनें, यही अभ्यर्थना है।

ॐ

श्री पार्श्वनाथाय नमः

प्रतिमा-पूजन

श्लोकादि संग्रह

प्रतिमा-पूजन

श्लोकादि संग्रह

पू० न्यायाचार्य, न्यायविशारद महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज विरचित "श्री प्रतिमाशतक' के अति मननीय ११ पद्य

(१)

ऐन्द्रश्रेणिनता प्रतापभवनं भव्यांगिनेत्रामृतं,
सिद्धान्तोपनिषद्विचारतुरैः प्रीत्या प्रमाणीकृता।
मूर्तिः स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरीन् विस्फुर
मोहोन्मादघनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता।

इंद्रों की श्रेणी द्वारा नमस्कृत, प्रताप के गृहरूप, भव्य प्राणियों के नेत्रों को अमृतरुप, सिद्धान्त के रहस्य का विचार करने में चतुर पुरुषों द्वारा प्रीति से प्रमाणभूत की हुई और स्फुरायमान ऐसी श्री जिनेश्वर भगवंत की प्रतिमा सदा विजय प्राप्त करती है, कि जो प्रतिमा विविध परिणाम वाले मोह के उन्माद और प्रमादरुपी मदिरा से उन्मत्त बने कुमति-पुरुषों को देखने में नहीं आती (१)

(२)

नामादित्रयमेव भावभगवत्तादप्यधीकारणं,
शास्त्रात् स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां भावं पुरस्कुर्वता
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः ।।

नामादि तीनों निक्षेप भगवान् के तद्रूपपनें की बुद्धि के कारण हैं तथा उनको शुद्ध हृदय वाले गीतार्थ पुरुषों ने शास्त्र से तथा अपने अनुभव से स्वीकार किया है तथा बारंबार उनका अनुभव किया है। इससे अर्हंत की प्रतिमा का अनादर कर मात्र भाव अर्हंत को जो मानने वाले हैं उनकी बुद्धि दर्पण में मुख देखने वाले अंधे पुरुषों की भाँति कुत्सित एवं दोषयुक्त है। (२)

(३)

स्वांतं ध्वान्तमयं मुखं विषमयं दृग् धूमधारामयी,
तेषां यैर्न नता स्तुता न भगवन्मूर्तिर्न वा प्रेक्षिता।
देवैश्चारणपुगंवैः सहृदयैरानन्दितैर्वन्दिता,
ये त्वेनां समुपासते कृतधियस्तेषां पवित्रं जनुः ॥

जिन्होंने भगवान् की मूर्ति को नमस्कार नहीं किया उनका हृदय अंधकारमय है; जिन्होंने उनकी स्तुति नहीं की उनका मुख विषमय है तथा जिन्होंने इनका दर्शन नहीं किया उनकी दृष्टि धुएँ से व्याप्त है। देवगण, चारण, मुनि और तत्त्ववेत्ताओं द्वारा आनन्द से वंदना की हुई इस प्रतिमा की जो उपासना करते हैं, उनकी बुद्धि कृतार्थ है और उनका जन्म पवित्र है (३)

(४)

उत्फुल्लामिव मालतीं मधुकरो रेवामिवेभः प्रियां,
माकन्दद्रुममंजरीमिव पिकः सौन्दर्यभाजं मधौ।
नन्दच्चन्दनचारुनन्दनवनीभूमिमिव द्यो:पति-
स्तीर्थेशप्रतिमां न हि क्षणमपि स्वान्ताद्विमुंचाम्यहम ॥

जैसे भ्रमर प्रफुल्लित मालती को नहीं छोड़ता जैसे हाथी मनोहर रेवा नदी को नहीं छोड़ता जैसे कोयल वसंत ऋतु में सुन्दर आम्रवृक्ष की डाली को नहीं छोड़ती और जैसे स्वर्ग-पति इन्द्र चन्दन वृक्षों से सुन्दर ऐसी नंदनवन की भूमि को नहीं छोड़ता, वैसे ही मैं तीर्थंकर भगवंत को प्रतिमा को अपने हृदय से पलभर भी दूर नहीं करता। (४)

(५)

मोहोद्दामदवानलप्रशमने पाथोदवृष्टिः शम-
स्रोतानिर्झरिणी समोहितविधौ कल्पद्रुवल्लिः सताम्।
संसारप्रबलान्धकारमथने, मार्तंडचंडद्युति-
जैनीमूर्तिरुपास्यतां शिवसुखे भव्याः पिपासास्ति चेत्॥

हे भव्य प्राणिओ! जो तुम्हें मोक्ष सुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो तुम श्री तीर्थंकर भगवान् की प्रतिमा की उपासना करो, जो प्रतिभा मोहरूपी दावानल को शान्त करने में मेघवृष्टि रूप है, जो समता रूप प्रवाह देने के लिये नदी है, जो सत्पुरुषों को वांछित देने में कल्पलता है और जो संसार रूपी उग्र अंधकार को नाश करने में सूर्य की तीव्र प्रभारूप है। (६)

दर्शं दर्शमवापमव्ययमुदं विद्योतमाना लसद्-
विश्वासं प्रतिमामकेन रहित! स्वां ते सदानन्द! याम्!
सा धत्ते स्वरसप्रसृत्वरगुणस्थानोचितामानमद्-
विश्वा संप्रति मामके नरहित! स्वान्ते सदानं दयाम्॥

हे सर्व दुख रहित प्रभु ! हे सदा आनन्दमय नाथ ! आपकी मूर्ति को देख-देखकर मैं अपने हृदय में विश्वास प्राप्त कर अव्यय एवं अविनाशी हर्ष को प्राप्त हुआ हूँ। हे मानव-हितकारी प्रभु ! आपकी यह प्रतिमा अभयदान सहित उपाधि बिना वृद्धिगत गुणस्थानक के योग्य दया का पोषण करती है। (६)

(७)

त्वद्‌बिम्बे विधृते हृदि स्फुरति न प्रागेव रूपान्तरं,
त्वद्रूपे तु ततः स्मृते भुवि भवेन्नो रूपमात्रप्रथा।
तस्मात्त्वन्मदभेदबुद्‌ध्युदयतो नो युष्मदस्मत्पदो–
ल्लेख. किंचिदगोचरं तुलसति ज्योतिः परं चिन्मयम् ॥

हे प्रभु ! आपके बिम्ब को हृदय में धारण करने के बाद दूसरा कोई रूप हृदय में स्फुरायमान नहीं होता और आपके रूप का स्मरण होते ही पृथ्वी पर अन्य किसी रूप की प्रसिद्धि नहीं होती। इसके लिये "तू वही मैं" ऐसी अभेद बुद्धि के उदय से "युष्मद् और अस्मद्" पद का उल्लेख भी नहीं होता और कोई अगोचर परम चैतन्यमय ज्योति अन्तर में स्फुरायमान होती है। (७)

(८)

किं ब्रह्मैकमयी किमुत्सवमयी श्रेयोमयी किं किमु,
ज्ञानानन्दमयी किमुन्नतिमयी किं सर्वशोभामयी।
इत्थं किं किमिति प्रकल्पनपरैस्त्वन्मूर्तिरुद्वीक्षिता,
किं सर्वातिगमेव दर्शयति सद्ध्यानप्रसादान्महः ॥

क्या यह प्रतिमा ब्रह्ममय है ? उत्सवमय है ? कल्याणमय है ? उन्नतिमय है ? सर्व शोभामय है ? इस प्रकार की कल्पना करते कवियों द्वारा देखी हुई तुम्हारी प्रतिमा सद्ध्यान के प्रसाद से सबको उल्लंघन करने वाली ज्ञानरूप तेज को बताती है । (८)

(९)

त्वद्रूपं परिवर्तंतां हृदि मम ज्योतिःस्वरूपं प्रभो !
तावद् यावदरूपमुत्तमपदं निष्पापमाविर्भवेत ।
यत्रानन्दघने सुरासुरसुखं संपिडितं सर्वतो,
भागेऽनन्ततमेऽपि नैति घटनां कालत्रयीसंभवि ।।

हे प्रभु ! पाप-नाशक, उत्तम पदस्वरूप और रूपरहित ऐसा अप्रतिप्राती ध्यान जब तक प्रकट नहीं हो जाता तब तक मेरे हृदय में आपका रूप अनेक प्रकार से ज्ञेयाकार रूप से परिणाम को प्राप्त हो ! जो आनन्दघन में त्रिकालसम्भवी और सभी ओर से एकत्रित सुर असुर का सुख अनन्तवे भाग का भी नहीं है । (९)

(१०)

स्वान्तं शुष्यति दह्यते च नयनं भस्मीभवत्याननं,
दृष्ट्वा तत्प्रतिमामपोह कुधियामित्याप्तलुप्तात्मनाम् ।
अस्माकं त्वनिमेषविस्मितदृशां रागादिमां पश्यतां,
सान्द्रानन्दसुधानिमज्जनसुखं व्यक्तीभवत्यन्वहम् ।।

जिन प्रतिमा के विषय में जिनकी आत्मा खंड़ित हुई है ऐसे दुर्बुद्धिओं का हृदय इस प्रतिमा को देखकर सूख जाता है, नेत्र जल उठते हैं, और मुँह भस्मीभूत हो जाता है, ज़बकि प्रेम से इस प्रतिमा को अनिमेष दृष्टि से देखते हमको तो आनंदघन अमृत में डूबने का सुख निरंतर प्रगट होता है। (१०)

(११)

मन्दारद्रुमचारुपुष्पनिकरैर्वृन्दारकैरर्चितां,
सद्वृंदाभिनतस्य निर्वृतिलताकन्दायमानस्य ते।
निस्यन्दात् स्नपनामृतस्य जगतीं पान्तीममन्दामया-
वस्कन्दात् प्रतिमां जिनेन्द्र ! परमानंदाय वन्दामहे ॥

हे जिनेन्द्र ! उत्तम पुरुषों के द्वारा नमस्कृत एवं मुक्ति रूपी लता के कंद समान आपकी प्रतिमा, जिसको देवताओं ने मंदार वृक्ष के पुष्पों से पूजी है और जो उग्र रोग को शोषण करने वाले स्नात्रजल रूप अमृत के झरने से सारे जगत् की रक्षा करती है, ऐसी प्रतिमा को हम परम आनंद (मोक्ष) के लिये वंदना करते हैं। (११)

कुमति - लता - उन्मीलन

—यानी—

श्री जिनबिंब-स्थापन-स्तवन

भरतादिके उद्धारज कीधो, शत्रुंजय मोझार;
सोनातणां जेणे देरां कराव्यां, रत्नतणाँ बिंब थाप्यां,
हो कुमति ! कां प्रतिमा उत्थापी १ अे जिनवचने थापी, १
वीर पछे बसे नेवुं वरसे, संप्रति राय सुजाण,
सवा लाख प्रासाद कराव्या, सवा क्रोड बिंब थाप्यां,
हो कुमति !० २
द्रौपदीए जिन प्रतिमा पूजी, सूत्रमां साख ठराणी;
छट्ठे अंगे ते वीरे भाख्युं, गणधर पूरे साखी
हो कुमति !० ३
संवत नवसेंताणु वरसे, विमल मंत्रीश्वर जेह;
आबु तणां जेणे दहेरां कराव्या, बे हजार बिंब थाप्यां,
हो कुमति !० ४
संवत अगिआर नवाणुं वरसे, राजा कुमारपाल;
पांच हजार प्रासाद कराव्या, सात हजार बिंब थाप्यां,
हो कुमति !० ५
संवत बार पंचाणु वरसे, वस्तुपाल तेजपाल,
पाँच हजार प्रासाद कराव्या, अगीयार हजार बिंब थाप्यां,
हो कुमति !० ६
संवत बार बोहोंतेर वरसे, संघवी धन्नो जेह;
राणकपुर जेणे देरां कराव्यां, क्रोड नवाणुं द्रव्य खरच्यां;
हो कुमति !० ७

ंवत तेर एकोतेर वरसे, समरोशा रंग सेठ,
उद्धार पंदरमो शत्रुंजे कीधो, अगीयार लाख द्रव्य खरच्या,
हो० कुमति !० ८
संवत पंदर सत्तासी वरसे, बादरशाह ने वारे;
उद्धार सोलमो शेत्रुंजे कीधो, करमशाहे जश लीधो.
हो कुमति ! ०६
ए जिन प्रतिमा जिनवर सरखी, पूजे त्रिविध तुमे प्राणी;
जिन प्रतिमामां संदेह न राखो, वाचक जसनी वाणी
हो कुमति ! ०१०

श्री जिन प्रतिमा - स्थापन - स्वाध्याय

जेम जिन प्रतिमा वंदन दीसे, समकित ने आलावे;
अंगोपाँग प्रकट अरथ ए, मूरख मनमां नावे रे.
कुमति ! काँ प्रतिमा उथापी ?० १
एम तें शुभ मति कापी रे—कुमति ! कां प्रतिमा उथापी ?
मारग लोपे पापी रे, कुमति ! कां प्रतिमा उथापी ?
एह अरथ अखंड अधिकारे, जुओ उपांग उववाई;
ए समकितनो मारग मरडी, कहे दया शी भाई रे.
कुमति !० २
समकित विण सुर दुरगति पामे, अरस विरस आहारे;
जुओ जमाली दयाए ने तरीओ, हुओ बहुल संसारी.
कुमति !० ३
चारण मुनि जिन प्रतिमा वंदे, भाखिऊं भगवई अंगे;
चैत्य साखि आलोयण भाखे, व्यवहारे मन रंगे.
कुमति !० ४

प्रतिमा-नति फल काऊस्सग्गे, आवस्यकमां भाख्युं;
चैत्य अर्थं वेयावच्च मुनि ने, दसमे अंगे दाख्युं रे.
कुमति !० ५

सूरियाभ सूरि प्रतिमा पूजी, रायपसेणी मांहि;
समकित विणुं भवजलमां पडतां, दया न साहे बांहि रे.
कुमति !० ६

द्रौपदीये जिन-प्रतिमा पूजी, छठे अंगे वाचे;
तो सुं एक दया पोकारी, आणा विण तुं माचे रे !
कुमति !० ७

एक जिन प्रतिमा वंदन द्वेषे, सूत्र घणां तुं लोपे !
नंदी मां जे आगम संख्या, आपमती कां गोपे ?
कुमति !० ८

जिन पूजा फलदानादिक सम, महानिशीथे लहिये;
अंध परंपर कुमतिवासना, तो किम मनमां वहिये रे ?
कुमति !० ९

सिद्धारथ राय जिन पूज्या, कल्पसूत्रमां देखो;
आणा शुद्ध दया मन धरतां, मिले सूत्रनां लेखो रे !
कुमति !० १०

थावर हिंसा जिन-पूजामां, जो तुं देखी धूजे;
तो पापी ते दूर देश थी, जे तुज आवी पूजे रे !
कुमति !० ११

पडिकमणे मुनि दान विहारे, हिंसा दोष विशेष;
लाभालाभ विचारी जोतां, प्रतिमामां स्यो द्वेष रे ?
कुमति !० १२

टीका चूर्णि भाष्य उवेख्यां, ऊवेखी निर्युक्ति;
प्रतिमा कारण सूत्र उवेख्यां, दूर रही तुझ मुगति रे !
कुमति !० १३

शुद्ध परंपरा चाली आवी, प्रतिमा-वंदन वाणी;
संमूर्च्छम जे ए मूढ न माने, तेह अदीठ कल्याण रे !

कुमति !० १४

जिन प्रतिमा जिन सरिखी जाणे, पंचांगीना जाण;
कवि जसविजय कहे ने गिरुआ, कीजे तास वखाण रे!

कुमति !० १५

श्री जिनप्रतिमा - स्थापन

श्री शांतिनाथ भगवान का स्तवन

शांतिजिनेश्वर साहेब वंदो, अनुभव रस नो कंदो रे,
मुखने मटके लोचन लटके, मोह्या सुरनर वृंदो रे,

शांति० १

मंजर देखी ने कोयल टौके, मेघ घटा जेम मोरो रे,
तेम जिनप्रतिमा निरखी हरखु ; वलीजेम चंद चकोर रे,

शांति० २

जिन प्रतिमा जिनवर भाखी, सूत्र घणां छे साखी रे,
सुरनर मुनिवर वंदन पूजा, करता शिव अभिलाषि रे,

शांति० ३

रायपसेणी प्रतिमा पूजो, सूरियाभ समकितधारी रे,
जिवाभिगमे प्रतिमा पूजी, विजवदेव अधिकारी रे,

शांति० ४

जिनवर बिंब विना नवि वंदु, आणंदजी एम बोले रे.
सातमे अंगे समकित मूले, अवर नहिं तस तोले रे,

शांति० ५

ज्ञातासूत्रे दोपदी पूजा, करती शिवसुख मागे रे,
राय सिद्धारथे प्रतिमा पूजी, कल्पसूत्र मांहे रागे रे,
शांति० ६

विद्याचारण मुनिवरे वंदी, प्रतिमा पांचमे अंगे रे,
जंघाचारण मुनिवरे वंदी, जिनप्रतिमा मन रंगे रे,
शांति० ७

आर्यसुहस्ति सूरि उपदेशे, चावो संप्रतिराय रे,
सवा क्रोडि जिनबिंब भराव्यां, धन्य धन्य एहनी माय रे,
शांति० ८

मोकली प्रतिमा अभयकुमारे, देखी आर्द्रकुमार रे,
जातिस्मरणे समकित पामी, वरीओ शिवसुख सार रे,
शांति० ९

इत्यादिक बहु पाठ कह्या छे, सूत्र मांहे सुखकारी रे,
सूत्र तणो एक वर्ण उत्थापे, ते कह्यो बहुल संसारी रे,
शांति० १०

ते माटे जिनआणा धारी, कुमति कदाग्रह वारी रे,
भक्ति तणां फल उत्तराध्ययने, बोधि बीज सुखकारी रे,
शांति ११

एके भवे दोय पदवी पाम्या, सोलमा श्री जिनराय रे,
मुज मन मंदिरीए पधराव्या, धवल मंगल गवराय रे,
शांति० १२

जिन उत्तम पद रूप अनुपम, कीर्ति कमलानी शाला रे,
जीवविजय कहे प्रभुजीनी भक्ति, करता मंगल माला रे,
शांति० १३

——

श्री शाश्वत-जिन-स्तुति

ऋषभ चंद्रानन वंदन कीजे, वारिषेण दुख वारे जी,
वर्द्धमान जिनवर वली प्रणमो, शाश्वत नाम ए चारे जी ।
भरतादिक क्षेत्रे मली होवे, चार नाम चित्त धारे जी,
तेणे चारे ए शाश्वत जिनवर, नमीये नित्य सवारे जी ॥१॥

उर्ध्व अधो तिर्छा लोके थई, कोडि पन्नरसें जाणो जी,
ऊपर कोडी बेहंतालीस प्रणमो, अडवन लख मन आणो जी ।
छत्रीश सहस एंशी ते ऊपरे, बिम्ब तणो परिमाणो जी,
असंख्यात व्यंतर ज्योतिषीमां, प्रणमुं ते सुविहाणो जी ॥२॥

रायपसेणि जीवाभिगमे, भगवती सूत्रे भाखी जी,
जंबूद्वीप पन्नत्ति ठाणांगे, विवरीने घणुं दाखी जी ।
वली अशाश्वती ज्ञाताकल्पमां, व्यवहार प्रमुखे आखी जी,
ते जिन प्रतिमा लोपे पापी, जिहां बहु सूत्र छे साखी जी ॥३॥

ए जिन पूजाथी आराधक, ईशान इन्द्र कहाया जी,
तेम सूरियाभ बहु सुरवर, देवी तणा ससुदाया जी ।
नंदीश्वर अट्ठाई महोत्सव, करे अति हर्ष भराया जी,
जिन उत्तम कल्याणक दिवसे, पद्मविजय नमे पाया जी ॥४॥

पाताले यानि बिम्बानि, यानि बिम्बानि भूतले ।
स्वर्गेऽपि यानि बिम्बानि, तानि वन्दे निरन्तरम् ॥१॥

पाताल-लोक में रहे हुए,
भूतल में रहे हुए तथा
स्वर्ग लोक में रहे हुए
—श्री जिन बिम्बों को मैं निरन्तर वंदन करता हूँ ।

जिने भक्तिर्जिने भक्ति-र्जिने भक्तिर्दिने दिने ।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु, सदा मेऽस्तु भवे भवे ॥१॥

भगवान् श्री जिनेश्वरदेवों के प्रति
भवोभव में
सदा के लिए
नित्य प्रति
मुझे भक्ति प्राप्त होवे ।

श्री जिन - पूजन महिमा

सयं पमज्जणे पुन्न, सहस्सं च विलेवणे ।
सयसहस्सिया माला, अनंतं गीयवायए ।। १ ।।

इस पुस्तक के प्रथम प्रकरण का लेखन प्रारंभ करते समय आगे के पृष्ठ पर 'श्री जिन-दर्शन महिमा' सूचक पद्य प्रस्तुत किया है । उसमें श्री जिन मंदिर में प्रभु के दर्शन करने से एक मासोपवास का व्यवहारिक फल बताया है । उसके अनुसन्धान में यह पद्य बताता है कि—

प्रभु दर्शन के फल की अपेक्षा श्री जिनबिम्ब का प्रमार्जन करने से सौ-गुना फल मिलता है । श्री जिन बिम्ब के विलेपन से हजार गुना फल मिलता है, श्री जिन बिम्ब को सुवासित पुष्पों की माला पहनाने से लाख गुना फल मिलता है और श्री जिनबिम्ब के सम्मुख नृत्यादि द्वारा भाव भक्ति करने से अनंत-गुना फल मिलता है ।

जिनवर बिब ने पूजतां, होय शतगणुं पुण्य ।
सहसगणुं फल चंदने, जे लेपे ते धन्य ।१।

लाख गणुं फल कुसुमनी, माला पहिरावे ।
अनंतगणुं फल तेहथी, गीत गान करावे ।२।

तीर्थंकर पदवी वरे, जिन पूजा थी जीव ।
प्रीति भक्तिपणे करी, स्थिरतापणे अतीव ।३।

जिन पडिमा जिन सारीखी, सिद्धान्ते भाखी।
निक्षेपा सहुसारिखा, थापना तिम दाखी ।४।

त्रणकाल त्रिभुवन मांही, करे ते पूजन नेह।
दरिशन केरुँ बीज छे, एहमां नहि संदेह ।५।

ज्ञान विमल तेहने, होय सदा सुप्रसन्न।
एहीज जीवित फल जाणीजे, तेहीज भविजनधन्न ।६।

—श्री ज्ञानविमलसुरि:

मूर्ति पूजा सम्बंधी

एक जैनेतर विद्वान् के
मननीय विचार

ज्ञान, यह आत्मा का सहसिद्ध धर्म है। संसारी आत्माओं का यह ज्ञान मोह से ढका हुआ होता है। मोहाच्छादित ज्ञान को शास्त्रों में ज्ञानाभास के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इसमें ज्ञान नहीं पर ज्ञान जैसा ही आभासमात्र होता है। ऐसे ज्ञान से इस जगत् में अनेक बुरी कल्पनाएँ पैदा होती हैं। अनेक अभागे जीव इन कुकल्पनाओं के शिकार बन जाते हैं। कुकल्पना के भ्रमजाल से बचने का एक ही रास्ता है और वह है, मोह-रहित महात्माओं के ज्ञान और वचन का आश्रय लेना। इसके सिवाय उससे बचा नहीं जा सकता।

ऐसा ही एक मत, इस जगत् में, अज्ञानवादियों का है। उनका कहना है कि ज्ञान से ही सारा कलह उत्पन्न होता है। ज्ञान प्राप्ति का प्रयास इस जगत् में जहाँ तक नहीं रुकता वहाँ तक दुःख का अंत नहीं आता। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान की जड़ खोदने का प्रयास किया जाता है, परंतु ऐसा करते अनजाने भी उनके द्वारा ज्ञान का समर्थन हो जाता है। इसका कारण यह है कि, "ज्ञान अनर्थ का मूल है," उनके इस प्रतिपादन का जन्म भी ज्ञान से ही हुआ है। यदि वह भी अज्ञान से उत्पन्न हुआ होता तो उनको भी मान्य नहीं हो सकता।

ज्ञान का खंडन करते समय जैसे ज्ञान का मंडन हो जाता है, वैसे ही मूर्ति का खंडन करने वाला स्वयं अनजाने ही 'मूर्ति' का ही मंडन कर देता है। 'मूर्ति' अथवा उसकी पूजा का खंडन करने वाले अपने विचार दूसरों को समझाने हेतु अक्षराकार मूर्तियों का आश्रय लेते हैं, क्योंकि उनके विचारों को प्रतिपादित करने वाली पुस्तकें निराकार विचार को समझाने वाली एक प्रकार की मूर्तियाँ ही हैं।

मूर्ति अथवा उसकी पूजा के विरुद्ध मत रखने वाले, मूर्तिपूजकों की सच्चे-झूठे अनेक तरीकों से निंदा करने का धंधा लेकर बैठे होते हैं। वे मूर्तिपूजक के अनेक दोष ढूँढते हैं तथा न मिलने पर नये तैयार करते हैं। मूर्ति और उसकी पूजा सत्य से परिपूर्ण है। सुख-प्राप्ति का इससे बढ़कर अथवा उसकी बराबरी का अन्य कोई मार्ग अभी तक तो प्राप्त नहीं हुआ है। इस मार्ग को बताने वाले ज्ञानी पुरुष जितना ज्ञान, बुद्धि अथवा दूरदर्शिता वर्तमान के मनुष्यों में अभी तक प्रगट नहीं हो सकी है। परंतु बंदर को तो रत्न भी एक काँच का टुकड़ा मालूम होता है, उसी प्रकार अपरिपक्व बुद्धि वाले मूर्तिपूजा जैसे सर्वोत्तम अनुष्ठान को भी हानिकारक कहकर उसकी निन्दा करते हैं। "मूर्तिपूजा हानिकारक है, त्याज्य है, अतिशयोक्ति वाली है, पेट भरने वालों ने अपने स्वार्थ के लिये उत्पन्न की है, भेड़ चाल है, स्वतंत्र विचारों के लिए असमर्थ लोग ही बिना विचारे उसका आचरण कर रहे हैं, मूर्ति-पूजा से देश का पतन और बर्बादी होती है, मूर्ति पूजा से बुद्धि जड़ बनती जाती है।" इस प्रकार अनेक तरह से, किसी प्रकार का अभ्यास किये बिना ही, मूर्तिपूजा के विरुद्ध अपूर्ण ज्ञानी लोग अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं।

इस स्थिति का कारण यह है कि आज के अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों में से ७५ या ६० प्रतिशत लोगों को, ईश्वर को मानने की आवश्यकता महसूस नहीं होती। धर्म करना, बेकारों का काम लगता है। शालाओं के शिक्षक भी ६६ प्रतिशत संस्कार रहित होते हैं और बालकों के कोमल मस्तिष्क पर निरन्तर इस बात के कुसंस्कार देते रहते हैं कि धर्म बुरा है, झूठा है।

अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को अच्छे, और बड़े मानने वाले सैंकड़ों लोग, उनके वचनों को देववाणी की तरह सच्चा मान बैठते हैं। अज्ञान अंधकार का भ्रम शास्त्र के प्रकाश के बिना कभी भी नहीं टल सकता। जिस प्रकार ज्योतिष शास्त्र को समझने के लिये बारह या अठारह वर्ष तक कठोर परिश्रम से अभ्यास करना चाहिये और तभी वह समझ में आता है। अन्यथा वह भ्रम, ठग विद्या जैसा लगता है। उसी प्रकार मूर्ति और उसकी पूजा का रहस्य समझने के लिये भी वर्षों तक धैर्य्य-पूर्वक अभ्यास करना चाहिये। मंत्रशास्त्र, योगशास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि शास्त्रों और विद्याओं को जानने तथा उनका सच्चा रहस्य समझने के लिये वर्षों तक परिश्रम की आवश्यकता रहती है। वैसे ही अध्यात्मशास्त्र के अंगभूत परमात्म-प्रतिमा-पूजन आदि का सच्चा रहस्य समझने के लिये भी दीर्घकाल तक परिश्रम की आवश्यकता रहती है।

अंग्रेजी पढ़े लिखों में भी बहुत से उत्तम वृत्ति के होते हैं, सत्य को खोजने की जिज्ञासा वाले होते हैं और वे जो स्वीकार करते हैं, उसे अंतःकरण के विश्वास के बाद ही शुद्ध बुद्धि से स्वीकार करने वाले होते हैं, परन्तु ऐसे लोग भी अध्यात्मशास्त्र के लिये सत्य को खोजने का तनिक भी कष्ट नहीं उठाते तथा

पूर्वाग्रह के अधीन होकर अपनी इच्छानुसार खंडन करने लग जाते हैं। जिस बात का वे खंडन करते हैं, उसे पूरा सोचते भी नहीं। वह खंडनीय है अथवा नहीं, इसकी भी जाँच नहीं करते।

किसी आगेवान ने खंडन किया, दूसरे आँख मूँदकर उसका अनुसरण करते हैं व अंधों की सेना की तरह एक के बाद एक खड्डे में गिरते जाते हैं, स्वयं हित के मार्ग से भ्रष्ट होने के साथ साथ अनेकों को भी भ्रष्ट करते हैं।

पेट भरने का उद्यम सीखने में ही जिन्होंने जीवन का बड़ा भाग बीता दिया हो, वे परमेश्वर की उपासना और भक्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक ऐसी भगवान् की मूर्ति, मन्दिर और उसकी पूजा के लिये मनचाही बातें करें तो उस पर बुद्धिमान लोगों को जरा भी ध्यान नहीं देना चाहिये।

'मूर्ति पूजन अपूर्व कल्याण को साधने वाला है', ऐसा संयमी पुरुष शास्त्रों में फरमाते हैं। दूसरों को यह बात समझ में नहीं आवे तो इसमें उनकी अपरिपक्व बुद्धि का ही दोष समझना चाहिये। शास्त्रों का रहस्य समझने के लिये बुद्धि को सूक्ष्म बनाने की आवश्यकता है।

किसी को बिजली में कुछ दैववत मालूम न होता हो तो वह भले ही ऐसा माने परन्तु 'एडीसन' जैसे विद्वान् को बिजली में जो अनन्त चमत्कारों का ज्ञान होने से तो उसकी अवगणना नहीं कर सकते है। 'एडीसन' को मूर्ख अथवा गप्पी कहने वाला स्वयं अपनी ही मूर्खता प्रकट करता है। वैसे ही हजारों विद्वानों को मूर्ति का जो रहस्य ज्ञात हुआ, वह इन लोगों

को मालूम नहीं हुआ, जिनमें उनकी विद्वत्ता और सामर्थ्य का लाखवाँ हिस्सा भी नहीं है। केवल इतनी सी बात से उनका रहस्य नष्ट नहीं हो जाता। ज्ञान स्वरूप परमात्मा, संयमी पुरुषों को ही प्रत्यक्ष होते हैं। उनकी मूर्ति की स्थापना और उनका ध्यान पूजन, सभी संयमी पुरुषों से कराया हुआ होता है और इसलिये वह सत्य है।

कितने ही कहते हैं कि—'परमेश्वर निराकार है, उसकी मूर्ति कैसे हो सकती है?' आकार वाले की ही मूर्ति हो सकती है और निराकार की नहीं, ऐसा कहना भी गलत है। 'निराकार की मूर्ति नहीं हो सकती', विवाद के लिये एक बार ऐसा मान भी लिया जाए तो भी आकार वाले की मूर्ति हो सकती है, यह किस प्रकार सिद्ध होता है? गाय, भैंस अथवा घोड़े के चित्र असली घोड़े, गाय अथवा भैंस से किस प्रकार मिलते हैं? वास्तविक घोड़ा तीन-चार हाथ ऊँचा और चार-पाँच हाथ लम्बा होता है जबकि चित्र का घोड़ा कई बार दो-तीन इंच भी लम्बा-चौड़ा नहीं होता। असली घोड़ा हिनहिनाता है, घास खाता है, पानी पीता है, मनुष्य को अपने ऊपर बिठाकर कई मील तक ले जाता है; चित्र का घोड़ा इनमें से कुछ भी नहीं करता। असली घोड़े के साथ चित्र के घोड़े की तुलना की जाय, ऐसी उसमें एक भी बात नहीं होती।

आकार वाली वस्तु की भी इस प्रकार सच्ची मूर्ति बनाना अशक्य है तो निराकार की मूर्ति बनाना अशक्य हो इसमें कहने की क्या बात है? किसी भी अंश में समानता न हो, ऐसी मूर्तियाँ और चित्र बनाकर उनका ज्ञान देने में आता है और उस ज्ञान

को देने में किया गया प्रयत्न सफल होता भी दिखाई देता है, तो फिर निराकार वस्तु का ज्ञान देने के लिये उसकी मूर्ति बनाने का प्रयत्न गलत और निष्फल है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? आकार वाली वस्तु का ज्ञान देने का साधन जैसे मूर्ति है, वैसे ही निराकार वस्तु का भी ज्ञान देने का साधन मूर्ति ही है।

मूर्तिपूजा का खंडन करने वाले अपने आकार रहित विचारों को, दूसरों को समझाने के लिये मूर्ति का ही आश्रय लेते हैं। उनकी सारी पुस्तकें निराकार विचारों को समझाने वाली मूर्तियाँ ही हैं। दो-चार अक्षरों वाले नाम में भी, नाम-वाले से कुछ अंश में भी समानता हो, ऐसा क्या है ? 'दयानंद'– ऐसे चार अक्षर वाले नाम में 'दयानंद सरस्वती' के भगीरथ प्रयत्न का, अविरत उत्साह का अथवा अपूर्व विद्वत्ता की जान-कारी कराने वाला ऐसा क्या है ? फिर भी दो चार अक्षरों के समुदाय से बनी हुई अक्षर मूर्ति को देखकर उससे कितने भक्तों का हृदय अपूर्व भक्ति रस से नहीं भर जाता है ?

विचार जैसी निराकार वस्तु का, दूसरों को बोध करवाने के लिये टेढ़े मेढे व आड़े-तिरछे अक्षरों अथवा उनकी आकृतियाँ, कि जो, विचारों के स्वरूप के साथ लेशमात्र भी समान नहीं हैं, का नित्य उपयोग करते हुए भी मूर्तिपूजा का खंडन करने वाले दया पात्र लोग, अपने आपको किस प्रकार बुद्धिमान कह सकते हैं ?

अफ्रिका के 'हब्शियों के सामने आगम शास्त्रों को रखो तो उन्हें वे कीड़े मकोड़े जैसी टेढी मेढी लकीरों के समान ही लगेंगे। जगत् के विश्व विख्यात पुस्तकालयों में कुत्ते बिल्लियों क छोड़ दिया जाय तो उनको ज्ञान के भंडार रूप महा मूल्य-

वान पुस्तकें भी मुँह में डालकर तोड़ने-फोड़ने जैसी ही लगेगी अथवा खेलने के साधन रूप ही लगेगी ! परंतु जिनको भाषा-ज्ञान हो चुका है और जिससे वे अक्षरों की मूर्ति के पीछे रहने वाले ज्ञान रूपी प्रकाश को देख सकते हैं, वे भी क्या पुस्तकों को तुच्छ बुद्धि वाले कुत्ते, बिल्ली की भाँति दाँत में डालकर तोड़ने-फोड़ने अथवा खेलने के साधन रूप मानेंगे ?

मनुष्य देह मिलने पर भी तथा कुत्ते से हजार गुणी अथवा लाखगुणी बुद्धि मिलने पर भी, 'मूर्ति निराकार वस्तु का बोध नहीं करवाती तथा ज्ञान के रहस्य को प्रकाश में लाने में असमर्थ है, ऐसा बुद्धिमान् लोग माने, इसके समान असंगत बात और क्या हो सकती है ? ज्ञान की जानकारी का द्वार यदि मूर्ति है तो फिर ज्ञान स्वरूप परमेश्वर को जानने का द्वार भी मूर्ति ही होगा, इसमें आश्चर्य कैसा ? मूर्ति का आश्रय लिये बिना निराकर वस्तु का बोध किया जा सकता है, ऐसा जो मानते हैं, उनकी बुद्धि कुशाग्र नहीं पर कुंठित है।

जगत् में जड़ व चेतन दो तत्त्व हैं। चेतन तत्त्व की शक्ति बतलाने का द्वार, जड़ तत्त्व है। मनुष्य की आत्मा अपने अस्तित्व का और अपनी सारी शक्तियों का भान देह रूपी जड़ मूर्ति द्वारा ही करवा सकती है। देह रूप जड़ मूर्ति के अभाव में, आत्मा ने अपने अस्तित्व का और स्वयं की शक्तिओं का ज्ञान दूसरों को कराया हो, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं दिया जा सकता।

बिजली और वाष्प की अपार शक्ति भी जड़ यंत्रों का आश्रय लेकर ही बताई जा सकती है तथा काम में ली जा सकती है। केवल चैतन्य अथवा केवल निराकार अक्रिय ही होता है। कर्ता साकार साधनों द्वारा ही क्रिया कर सकता है।

स्थूल जगत् में जो नियम हैं वे ही नियम सूक्ष्म जगत् में भी हैं। निराकार शक्ति का अनुभव करने की इच्छा रखने वाला यदि साकार मूर्ति द्वारा प्रयत्न करे, तभी वह सफल होता है।

निराकार आत्मा का अनुभव, साकार देह के बिना नहीं हो सकता, वैसे ही निराकार ज्ञान भी साकार शरीर और उसके हाथ, पैर, जीभ आदि अवयवों के बिना प्रगट नहीं किया जा सकता। पुस्तक आदि आकार वाली मूर्तियों के बिना निराकार सिद्धान्तों के प्रसारण का अन्य कोई भी मार्ग आज तक नहीं खोजा जा सका है।

इस प्रकार कोई भी निराकार द्रव्य, साकार द्रव्य की सहाय बिना जब बुद्धि में नहीं उतर सकता, तो सभी रहस्यों के रहस्य, अत्यंत निगूढ और निराकार परमात्मा, साकार वस्तु के आलंबन लिये बिना बुद्धि में उतर जाय, क्या यह संभव है ?

प्रणव अर्थात् ओम्कार ब्रह्म का वाचक है, ऐसा सभी शास्त्र स्वीकार करते हैं। उसका जाप, भावन और ध्यान करने से ब्रह्म का ज्ञान होता है। अब इस ओम्कार और उसके ब्रह्म में क्या समानता है ?

ब्रह्म चिदानन्द स्वरूप है और उसके अनुभव से मनुष्य, जन्म, जरा तथा मरण के कष्ट से मुक्ति पा जाता है जबकि प्रणव अर्थात् ओम्कार उत्पत्ति एवं विनाश के स्वभाववाला तथा जड़ है। कागज के टुकड़े पर लिखा हुआ वह प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान अथवा आनंद देने वाला नहीं होता तथा उसको देखने वाले

सभी के जन्म-मरण के दुःखों का वह नाश नहीं करता। फिर भी अनुभवी लोग जानते हैं कि यही ओम्कार शब्द उसके विधि पूर्वक किये गये जाप और ध्यान से ब्रह्म का साक्षात्कार करवाता है।

अज्ञानी गँवार को ओम्कार ('ओ ओ' ऐसे शब्द से) पेट में शूल उठने की भ्रान्ति; पैदा करने वाला होता है जबकि ज्ञानी के मन में परमात्मा अथवा ब्रह्म के स्वरूप का बोध करवाने के लिये, आज तक के खोजे हुए सभी शब्दों में, सर्वोपरि पद को भोगता है।

प्रत्येक शास्त्र और मन्त्रों में उसका प्रमुख स्थान है तथा प्रारंभ में उसीकी स्थापना की जाती है। 'आकारवाली मूर्ति निराकार का बोध करवाने में असमर्थ हैं, ऐसा मानने वाले ओम्कार का जाप नहीं कर सकते। परन्तु जो अक्षराकार ओम्कार परमात्मा का बोध करवा सकता है तो परमात्मा का बोध कराने वाली अन्य आकृतियों और मूर्तियों को निरर्थक अथवा हानिकारक नहीं कहा जा सकता। प्रणव का चिंतन परमात्मा का साक्षात्कार करा सकता है और मूर्ति नहीं करा सकती, इसके लिये कोई भी प्रमाण नहीं है।

"मूर्ति परमेश्वर है," ऐसा मूर्ति पूजक नहीं मानते हैं परन्तु मूर्तिपूजन परमेश्वर की उपासना तथा उनका ज्ञान प्राप्त करने का एक श्रेष्ठ साधन है, ऐसा मानते हैं।

मूर्तिपूजक पत्थर, धातु, लकड़ी अथवा मिट्टी अथवा उनकी विशेष प्रकार की घढ़ी हुई आकृति को ही ईश्वर नहीं मान लेते। पत्थर, धातु, लकड़ी अथवा मिट्टी को ही यदि वे ईश्वर मानते

होते तो जगत् में वे वस्तुएँ जहाँ २ हैं उन सबकी वे पूजा करते परन्तु कोई भी मूर्तिपूजक अपने धर्म-स्थान में रहे पत्थर, लकड़ी के स्तम्भ, पानी पीने के पात्र अथवा आँगन में पड़ी मिट्टी को कभी नहीं पूजते। यदि पाषाण आदि की आकृति को ही ईश्वर मानते होते तो मूर्तियाँ बेचने वाले की दुकान पर जाकर उसको वंदन करते और वस्त्र, अलंकार अथवा नैवेद्य आदि समर्पित कर देते परन्तु इस प्रकार कोई भी मूर्तिपूजक करता हुआ देखा नहीं गया।

इससे सिद्ध होता है कि–मूर्तिपूजक मूर्ति को ही ईश्वर नहीं मानते किन्तु मूर्ति रूपी द्वार के माध्यम से वे किसी अन्य अगम्य वस्तु को ही ईश्वर मानते हैं तथा उसकी अर्चना, पूजा अथवा भक्ति करते हैं। अगम्य ईश्वर का बोध करने के लिये मूर्ति-पूजक, मूर्ति का आश्रय लेता है, इसमें बुराई क्या है? लाखों मील विस्तार वाली पृथ्वी का ज्ञान विद्यार्थी को क्या एक छोटे घड़े जितनी मिट्टी के गोले से अथवा तीन साढ़े तीन फीट चौरस नक्शे से नहीं कराया जा सकता? आकाश में उदित द्वितीया के चंद्रमा को देखने के लिये, क्या कोई छप्पर या पेड़ पर, देखने वाले की दृष्टि आरंभ में स्थापित नहीं की जाती?

सूक्ष्म वस्तु का भान कराने के लिये स्थूल पदार्थों का आश्रय इस जगत् में सभी जगह बुद्धिमान् लोग लेते हैं, तो सूक्ष्मातिसक्ष्म परमेश्वर का ज्ञान करवाने के लिये और भक्ति प्रगट करने के लिये शास्त्रकार महर्षिओं ने मूर्ति की योजना की हो, तो उसमें आश्चर्य चकित होने जैसा क्या है? अगम्य वस्तु का ज्ञान हमेशा जानी-पहचानी वस्तुओं द्वारा ही कराया जा सकता है।

जो शिक्षक विद्यार्थी की बुद्धि में उतारने के लिए अनेक प्रकार के जाने-माने स्थूल दृष्टांत दे सकते हैं, वे कुशल शिक्षक माने जाते हैं; जो ऐसा नहीं कर सकते, वे कितने भी विद्वान् होने पर भी शिक्षक बनने योग्य नहीं गिने जाते।

परमेश्वर का ज्ञान सब से अगम्य ज्ञान है और उसे देने के लिये अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि वाले महर्षिओं ने मूर्ति द्वारा जो कुशलता दिखाई है ऐसी, पृथ्वी के किसी भी देश के धर्म-प्रवर्तक भाग्य से ही दिखा सके हों ? ज्ञान के गूढ़तम रहस्यों को समझाने के लिये प्रत्येक देश के विद्वानों ने सांकेतिक चित्रों के द्वारा, गूढाक्षरों द्वारा, गूढ शब्दों द्वारा, रूपक द्वारा और कथाओं द्वारा तथा साथ ही साथ मूर्तियों द्वारा बड़े बड़े प्रयास किये हैं। परन्तु इन सब में आर्य महर्षिओं ने जो सूक्ष्म दृष्टि और बुद्धि का चमत्कार बताया है ऐसा आज तक कोई भी बताने में समर्थ नहीं हो सका है। उत्तम कल्याणकारक रहस्य सामान्य बुद्धि की प्रजा को समझाने के लिये, उन रहस्यों को संकेत में उतारना कोई खिलवाड़ नहीं हैं।

जैसे २ बुद्धि वैभव बढ़ता है, वैसे २ यह शक्ति आती है। थोड़े में अधिक अर्थ बतलाने का कार्य, सूक्ष्म बुद्धि वाले लोग ही कर सकते हैं। प्रणव अथवा ओम्कार के एक ही अक्षर में कितना निगूढ़ रहस्य समझाया गया है उसकी कल्पना भी आज कोई नहीं कर सकता। तीन-चार शब्द से बने एक ही सूत्र से सैकड़ों पृष्ठों में समाने योग्य अर्थ बतलाने में, पुराने ऋषि मुनि कितने सफल सिद्ध हुए हैं, यह बात विश्व विख्यात है।

इस प्रकार गूढ़ रहस्य को बताने वाले संकेतों को तैयार करने में अगाध बुद्धि बल की आवश्यकता है। असाधारण

बुद्धि की खान प्राचीन महर्षि प्रणव जैसे, एक ही संकेत को तैयार कर रुक नहीं गये, परन्तु बुद्धि से असंख्य भेद वाले मनुष्यों को देखकर, इन सबको ज्ञान के मार्ग में आकर्षित करने के लिए सैंकड़ों संकेतों को तैयार करने में प्रयत्न-शील बने हैं और संकेत बनाने के, उनके प्रबल प्रयास के परिणामस्वरूप ही, असंख्य भेद वाली अक्षरादि की तथा पाषाणादि की मूर्तियाँ दिखाई देती हैं।

"मूर्तियाँ ईश्वर के स्वरूप अथवा ज्ञान के गम्भीर रहस्यों को न समझने से निकली है, अथवा प्राचीन काल के मनुष्यों की बुद्धि बाल्यावस्था में थी, उस समय निकली है",—ऐसा नहीं है परन्तु ईश्वर के स्वरूप को एवं ज्ञान के गहन रहस्यों को समझने के बाद ही बुद्धि की प्रौढ अवस्था में से निकली हैं। यह बात सत्य है कि आज मूर्तियाँ रही हैं पर इन मूर्तियों से सूचित होने वाले रहस्य को ढूँढ निकालने की कला का अधि-कांश लोप हो गया है। पर इसमें मूर्तियों का क्या दोष कि उनका खंडन किया जाय?

किसी गूढ़ भाषा में लिखित ग्रन्थ अपने अज्ञान से हमको समझ में न आवें तो उसके लिये उस भाषा को समझने का प्रयत्न करना अधिक उचित है या उन ग्रन्थों का ढेर बनाकर उनकी होली जलाना? ग्रन्थों में अक्षरों एवं शब्दों के माध्यम से ज्ञान को प्रकाशित किया गया है और मूर्तियों में उनकी आकृति आदि के द्वारा। पर दोनों ही ज्ञान के सूचक संकेत हैं।

एक दृष्टि से मूर्ति, ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक ऊँचे अनुभव ज्ञान का प्रतीक है। मूर्ति का विधि पूर्वक उपयोग करने वाला इस बात को अच्छी तरह जान सकता है। तो फिर ग्रन्थों को,

ज्ञान का साधन मानना तथा मूर्ति को अज्ञान बढ़ाने वाली और बुद्धि को जड़ करने वाली समझना, कितनी भूल है? कोई कहेगा कि ग्रन्थों से तो ज्ञान प्राप्त होने का प्रत्यक्ष अनुभव होता है पर मूर्ति से ज्ञान प्राप्ति की प्रतीति कहाँ होती है? उसका उत्तर यह है कि ग्रन्थों से ज्ञान प्राप्त होता है परन्तु किसको? जो ग्रन्थ को समझने में समर्थ हो उसको; सबको नहीं। गाय, भैंस, कुत्ते आदि को ग्रन्थों का ज्ञान कैसे नहीं होता? गाँव के अशिक्षित लोगों को ग्रन्थों से ज्ञान क्यों नहीं होता? मूर्ति के संबंध में ऐसा ही है।

जैसे भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ग्रन्थ का अध्ययन करने वाले को ग्रन्थ से ज्ञान होता है, वैसे ही मूर्ति का विधि-पूर्वक नियमित अर्चन पूजन करने वाले को ही मूर्ति से ज्ञान होता है।

जैसे भाषा के अध्ययन में अनेक कक्षाएँ हैं और कितनी ही कक्षाएँ पार करने वाले को ही भाषा का ज्ञान होता है और ग्रन्थ समझने की शक्ति आती है पर कक्का या बाराक्षरी पढ़े व्यक्ति को, प्रौढ लेख समझने की शक्ति नहीं आती, वैसे ही मूर्ति को केवल चंदन, पुष्प चढ़ाने वाले को अथवा उसके चरणों पर गिरने वाले को मूर्ति का रहस्य समझने की शक्ति नहीं आती है।

लोगों में जो मूर्ति पूजा प्रचलित, है वह मूर्ति पूजा को पहली या दूसरी पुस्तक है। इससे आगे बढ़ने का है। जो धैर्यपूर्वक पहली कक्षा को पारकर ऊपर की कक्षा पर चढ़ते जाते हैं उनको मूर्तिपूजा का अलभ्य लाभ प्राप्त हुए बिना नहीं रहता।

मूर्तिपूजा की प्रथम कक्षा के कर्त्तव्य का भी जो बराबर पालन करते हैं, उनका अंतःकरण मूर्ति पूजन नहीं करने वालों की तुलना में अधिक सात्विक और समाधान वाला होता है। आगे की कक्षाओं का बोध कराने वाला उसे कोई मिला नहीं, इससे वे वहीं के वहीं अटके रहे, परन्तु यदि उन्हें वहाँ कोई बोध कराने वाला मिले और वे प्रयत्न करें तो तत्त्वज्ञान में काफी आगे बढ़े विना नहीं रहें।

मूर्तिपूजन नहीं करने वाले का अंत:करण भक्ति शून्य, तामसी, अनिर्णीत, गोटाले वाला और बेढंगा होता है जबकि मूर्तिपूजक सात्विक, भक्तिमान् और अधिक समाधान वाली मनोवृत्ति को धारण करने वाला होता है। वह मूर्तिपूजक को मंद बुद्धि वाला समझता है, जबकि वास्तव में उसकी अपेक्षा वह स्वयं मंद बुद्धि वाला होता है। मूर्ति को उड़ाकर परमेश्वर का वे कुछ भी अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर का ज्ञान केवल शास्त्रों में से उनका स्वरूप जानने मात्र से नहीं होता पर अनुभव करने से होता है। जिसने नारंगी नहीं खाई, उसके आगे नारंगी का कितना भी वर्णन करने पर भी उसे नारंगी के स्वाद का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं होता। स्थूल वस्तुओं में जब ऐसा होता है; तो सूक्ष्म में तो वैसा हो, इसमें आश्चर्य क्या है ?

परमेश्वर जैसा है उसका वैसा अनुभव शब्दों से लेश मात्र भी नहीं होता। नारंगी के अनुभव के लिये जैसे नारंगी को खाना पड़ता है, वैसे ही परमेश्वर का अनुभव करने के लिए उसे पूजनादि के द्वारा प्रत्यक्ष करना पड़ता है। जो जो वस्तु अगम्य

होती है उस उस वस्तु के स्वरूप का अनुभव-ज्ञान मन से उन-उन अगम्य वस्तुओं को एकाग्र करने से होता है।

गुरुत्वाकर्षण का अगम्य नियम 'न्यूटन' ने किस प्रकार ढूंढ निकाला? 'एडीसन' ने बिजली के विविध कार्य और उनका उपयोग किस प्रकार खोज निकाला? जिस जिस का ज्ञान प्राप्त करने का होता है, उस उस में मन को तथा विचार को एकाग्र करने से! रहस्यज्ञान का प्रकाश करने वाली एकाग्रता एक दिन में नहीं होती। मन को चंचलता अभ्यास के बिना नहीं मिटती।

अतः परमेश्वर का अगम्य ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक को सर्व प्रथम परमेश्वर में एकाग्र बनने की आवश्यकता है और तत्पश्चात् उसका कदम कदम पर अभ्यास करने को दूसरी आवश्यकता है। एकाग्रता का प्रथम चरण मूर्ति पूजन है। मूर्ति को नहीं मानने वाले भले ऐसा कहें कि, 'हम मन को निराकार ईश्वर में एकाग्र करने में समर्थ हैं और हमारा कार्य मानसिक पूजन करने का है' परन्तु उनके नेत्र, वचन और व्यवहार स्पष्ट रूप से बताते हैं कि वे सभी केवल आडम्बर-पूर्वक की गई बातें हैं।

एक अंक पढ़े बिना, गणित की बड़ी बड़ी बातें करने में कोई समर्थ नहीं होता, वैसे ही एकाग्रता प्राप्त करने में क्रमवार सीढ़ियाँ पार किये बिना कोई भी एकाग्रता को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति एकाग्रता को नहीं साध सकता। एकाग्रता की साधना करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह विद्या विषयक हो, कला विषयक हो, व्यापार विषयक हो अथवा अध्यात्म विषयक हो, आरंभ में मूर्ति का सहारा लेना ही पड़ता

है और इस मूर्ति में मन को लगाने के अभ्यास से धीरे-धीरे अंत:करण का बल बढ़ने से अधिक सूक्ष्म पदार्थों में अथवा धर्म में एकाग्रता साधी जा सकती है।

मूर्तिपूजन में अंत:करण का बल बढ़ने के, जो जो नियम हैं वे सभी आश्चर्यपूर्ण ढंग से बने हुए हैं। मूर्ति में ईश्वर की भावना कर मूर्तिपूजक उसकी पूजा-अर्चना करता है, जिससे उस समय उसके अंत:करण में अधिक ऊँची भावना रमण करती है। उसे स्नान, वस्त्र, अलंकार, नैवेद्य आदि समर्पित करने से अंत:करण में परमेश्वर संबंधी प्रेम और भक्ति का पोषण होता है।

मूर्ति के रूप में एक स्थान में परमेश्वर का आरोप किया हुआ होने से उतने ही स्थान में उसकी वृत्ति शीघ्र एकाग्र बनती है। वह जितने समय तक पूजन करता है उतनी देर उसकी वृत्तियाँ, जो कि ऊपर से देखने पर जड़ पदार्थ के आश्रित दिखाई देती हैं, वास्तव में जड़ में आरोपित ईश्वर-तत्त्व का प्रति पल संबंध जोड़ने के लिए छटपटाती हैं। इससे उसके अंत:करण में ईश्वर संबंधी विचारों का एक शुद्ध द्रव्य जमता जाता है और उस द्रव्य में नित्य अभ्यास की वृद्धि के साथ ईश्वर में उसका प्रेम और भक्ति बढ़ती जाती है।

इसके साथ जिस स्थान में वह मूर्तिपूजन करता है, उस स्थान का वातावरण भी उसके पवित्र विचारों द्वारा अधिक से अधिक पवित्र बनता जाता है और सदैव ऐसा होने से अंत में उस देवगृह की पवित्रता एवं आध्यात्मिकता किसी विलक्षण शांति को, भक्ति को और वृत्ति के उच्च भाव को प्रगट करने वाली होती है।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से विचार करने पर मूर्तिपूजा मनुष्य की बुद्धि को जड़ न करके अधिक शुद्ध, अधिक भक्ति वाली और अधिक आध्यात्मिक करने में समर्थ होती है। स्थान-स्थान पर निर्मित देवालयों एवं मंदिरों से, आर्य प्रजा के इस आध्यात्मिक बल की रक्षा होती है, जबकि मूर्ति पूजन की विधि के प्रति दुर्लक्ष्य होने से तथा व्यवस्थापकों के अज्ञान से अध्यात्म-बल, कई स्थानों में केवल नाम मात्र का ही देखने में आता है, फिर भी यह नाम मात्र का अध्यात्मबल भी मूर्ति पूजन रहित स्थानों की प्रजाओं के अध्यात्मबल की तुलना में सैंकड़ों गुणा श्रेष्ठ है। स्थान स्थान पर देवालय होने से अनेक बार रास्ते में चलते-चलते आर्य प्रजा को ईश्वर के प्रति अपनी वृत्ति को अभिमुख करने का अवसर प्राप्त होता है।

कितने ही कहते हैं कि, मूर्तिपूजा में दूसरा कोई दोष नहीं पर इसकी आड़ में स्वार्थी लोग कई प्रपंच चलाते हैं और भोली प्रज़ा को लूटते हैं। ऐसे दुष्टों की स्वार्थ सिद्धि न हो, इस हेतु मूर्तिपूजा को रोकना चाहिये।

यह विचार 'भैंस की भूल और भिश्ती को सजा' देने जैसा है। मूर्तिपूजा को आड़ में मूर्तिपूजक खूब खाते पीते हैं और प्रजा को ठगते हैं तो मूर्ति को नहीं मानने वाला, क्या यह सब कुछ नहीं करता? मूर्ति को नहीं मानने वाले, सभी क्या अपना निर्वाह ईमानदारी से करते हैं? क्या वे सभी नोति के सिद्धान्तों का तन मन से अनुसरण करते हैं?

यदि ऐसा नहीं है तो जैसे दोष होने पर भी अमूर्तिपूजकों को निभा लिया जाता है वैसे ही मूर्तिपूजकों में भी कोई दोषयुक्त हो तो उसके प्रति घृणा रखने से क्या लाभ? उनको तो सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी भी दृष्टि से योग्य

विचार से मूर्तिपूजा का खंडन नहीं किया जा सकता। मनुष्यों के स्वभाव में यह वृत्ति है।

मूर्ति को नहीं मानने वाले पाश्चात्य लोग भी अपनी प्रियतमा के सिर के बालों की कटी लता को प्रेम से, छाती से लगाते हैं, ईसाई कल्पित दाँत को और ऐसी ही सैंकड़ों वस्तुओं को अत्यंत प्रेम से पूजते हैं तथा मूर्तिपूजकों की अपेक्षा अधिक बाह्य आडम्बर करते हैं। मूर्तिपूजा को तिरस्कार से देखने वाले कब्र पर फूल चढ़ाते हैं, धार्मिक पुस्तकों के प्रति बहुत आदर भाव रखते हैं, अपने राजा-रानी, नेता या बड़े सरदार के पुतले का कोई दुर्जन अपमान करे तो वे बड़ा अपमान हुआ मानते हैं, स्वतंत्रता के झंडे की शोभायात्रा निकालते हैं और जिस २ रास्ते से वह शोभायात्रा जाती है उस २ रास्ते के सभी लोग झंडे को देखकर अपनी टोपी उतार लेते हैं।

इस प्रकार मूर्तिपूजा सर्वत्र व्याप्त है और उसमें बड़ा सत्य समाया हुआ है। जो मूर्ति पूजा करते हैं, वे पाप नहीं करते पर अपना हित ही साधते हैं। मूर्तिपूजा अपने आप में दोषपूर्ण नहीं है, पर उसकी विधि लोगों को जैसी समझानी चाहिये वैसी बराबर समझाई नहीं गई, इतना ही दोष है। विधि न समझाने से और तो कोई नुकसान नहीं, पर मूर्तिपूजक आगे नहीं बढ़ते, इतनी ही हानि है और ऐसी हानि तो मूर्ति को नहीं पूजने वाले भी भोग ही रहे हैं।

मूर्तिपूजक तो एक दो सीढ़ी भी आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़े हुए हैं जबकि मूर्ति को नहीं पूजने वालों की स्थिति तो किसी भी सीढ़ी में नहीं आती। इसलिये मूर्तिपूजकों को अपने पूजन की विधि का उद्धार करने की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही मूर्ति न मानने वालों को अपना घर सुधारने की है।

पू० पन्यासजी म० सा० द्वारा संपादित साहित्य

हिन्दी साहित्य

१. जैन मार्ग परिचय
२. महामंत्र की अनुप्रेक्षा
३. परमेष्ठि नमस्कार

गुजराती साहित्य

४. जैन मार्ग को पिछाण
५. अनुप्रेक्षा
६. प्रतिमा पूजन
७. देव दर्शन
८. धर्म श्रद्धा
९. परमेष्ठि नमस्कार अने साधना
१०. नमस्कार महा मंत्र
११. नमस्कार दोहन
१२. नमस्कार मिमांसा
१३. तत्त्व दोहन
१४. तत्त्व प्रभा
१५. मनन माधुरी
१६. प्रार्थना
१७. आस्तिकता नो आद
१८. आराधना नो मार्ग